

Chapter नौ

सृजन-शक्ति के लिए ब्रह्मा द्वारा स्तुति

ब्रह्मोवाच

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां
 न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम् ।
 नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं
 मायागुणव्यतिकराद्यदुरुर्विभासि ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; ज्ञातः—ज्ञात; असि—हो; मे—मेरे द्वारा; अद्य—आज; सुचिरात्—दीर्घकाल के बाद; ननु—लेकिन; देह-भाजाम्—भौतिक देह वाले का; न—नहीं; ज्ञायते—ज्ञात है; भगवतः—भगवान् का; गतिः—रास्ता; इति—इस प्रकार; अवद्यम्—महान् अपराध; न अन्यत्—इसके परे कोई नहीं; त्वत्—तुम; अस्ति—है; भगवन्—हे भगवान्; अपि—यद्यपि है; तत्—जो कुछ हो सके; न—कभी नहीं; शुद्धम्—परम; माया—भौतिक शक्ति के; गुण-व्यतिकरात्—गुणों के मिश्रण के कारण; यत्—जिसको; ऊः—दिव्य; विभासि—तुम हो।

ब्रह्माजी ने कहा : हे प्रभु, आज अनेकानेक वर्षों की तपस्या के बाद मैं आपके विषय में जान पाया हूँ। ओह! देहधारी जीव कितने अभागे हैं कि वे आपके स्वरूप को जान पाने में असमर्थ हैं। हे स्वामी, आप एकमात्र ज्ञेय तत्व हैं, क्योंकि आपसे परे कुछ भी सर्वोच्च नहीं है। यदि कोई वस्तु आपसे श्रेष्ठ प्रतीत होती भी है, तो वह परम पूर्ण नहीं है। आप पदार्थ की सृजन शक्ति को प्रकट करके ब्रह्म रूप में विद्यमान हैं।

तात्पर्य : भौतिक शरीरों में बद्धजीवों की सबसे बड़ी नादानी यह है कि वे विराट जगत के परम कारण से अवगत नहीं होते हैं। परम कारण के विषय में भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं, किन्तु उनमें से कोई भी यथार्थ नहीं है। एकमात्र परम कारण विष्णु हैं, किन्तु भगवान् की मोहिनी शक्ति इसमें आड़े आने वाली बाधा है। भगवान् ने भौतिक जगत में अनेकानेक अद्भुत विभ्रान्तियों को प्रकट करने में अपनी विस्मयकारी भौतिक शक्ति लगा रखी है। उसी शक्ति से मोहित सारे बद्धजीव इसीलिए उस परम कारण को जानने में असमर्थ हैं। इसलिए बड़े से बड़े विज्ञानियों तथा दार्शनिकों को अद्भुत नहीं माना जा सकता। वे अद्भुत इसलिए लगते हैं, क्योंकि वे भगवान् की मोहिनी शक्ति के हाथों के खिलौने हैं। मोहवश सामान्य जन परमेश्वर के अस्तित्व से इनकार करते हैं और मोहिनी शक्ति के व्यर्थ के उत्पादों को परम के रूप में स्वीकार करते हैं।

परम कारण भगवान् को उनकी अहैतुकी कृपा द्वारा ही जाना जा सकता है, जो ब्रह्मा जैसे शुद्ध

भक्तों तथा उनकी शिष्य-परम्परा के शुद्ध भक्तों को ही प्रदान की जाती है। ब्रह्माजी एकमात्र तपस्या करने से ही गर्भोदकशायी विष्णु का दर्शन कर सके और उस साक्षात्कार के द्वारा ही वे भगवान् को यथारूप में समझ सके। ब्रह्माजी भगवान् के भव्य सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य को देखकर अत्यधिक तुष्ट थे और उन्होंने यह स्वीकार किया कि वे अतुलनीय हैं। एकमात्र तपस्या द्वारा भगवान् के सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य को सराहा जा सकता है और जब कोई व्यक्ति उस सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य से अवगत हो जाता है, तो वह अन्य किसी वस्तु के द्वारा आकृष्ट नहीं होता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (२.५९) में *परं दृष्ट्वा निवर्तते* के रूप में हुई है।

वे मूर्ख मनुष्य जो भगवान् के परम सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य को खोजने का प्रयास नहीं करते उन्हें यहाँ पर ब्रह्माजी द्वारा धिक्कारा गया है। यह तो अनिवार्य है कि प्रत्येक मनुष्य ऐसे ज्ञान के लिए प्रयत्नशील रहे और यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसका जीवन व्यर्थ जाता है। भौतिक दृष्टि से कोई भी वस्तु जो कि सुन्दर तथा ऐश्वर्यमयी है उन जीवों द्वारा भोगी जाती है, जो कौवों के तुल्य हैं। कौवे सदैव फेंके हुए कूड़े से चारा चुगने में लगे रहते हैं, किन्तु हंस कौवों से मेल-जोल नहीं करते, प्रत्युत वे सुन्दर उद्यानों से घिरे, कमल के फूलों से युक्त पारदर्शी सरोवरों में आनन्द लेते हैं। कौवे तथा हंस दोनों ही जन्म से पक्षी हैं, किन्तु उनके स्वभाव एक से नहीं होते।

रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन

शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय ।

आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं

यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

रूपम्—स्वरूप; यत्—जो; एतत्—वह; अवबोध-रस—आपकी अन्तरंगा शक्ति के; उदयेन—प्राकट्य से; शश्वत्—चिरन्तन; निवृत्त—से मुक्त; तमसः—भौतिक कल्मष; सत्-अनुग्रहाय—भक्तों के हेतु; आदौ—पदार्थ की सृजनशक्ति में मौलिक; गृहीतम्—स्वीकृत; अवतार—अवतारों का; शत-एक-बीजम्—सैकड़ों का मूल कारण; यत्—जो; नाभि-पद्म—नाभि से निकला कमल का फूल; भवनात्—घर से; अहम्—मैं; आविरासम्—उत्पन्न हुआ।

मैं जिस रूप को देख रहा हूँ वह भौतिक कल्मष से सर्वथा मुक्त है और अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में भक्तों पर कृपा दिखाने के लिए अवतरित हुआ है। यह अवतार अन्य अनेक अवतारों का उद्गम है और मैं स्वयं आपके नाभि रूपी घर से उगे कमल के फूल से उत्पन्न हुआ हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर (शिव) ये तीन देव, जो तीनगुणों (रजो, सतो तथा तमोगुण) के अधिष्ठाता हैं, गर्भोदकशायी विष्णु से उत्पन्न होते हैं जिनका वर्णन ब्रह्मा यहाँ कर रहे हैं। क्षीरोदकशायी विष्णु से विराट जगत की जीवन अवधि में विभिन्न युगों में अनेक विष्णु विस्तारित होते हैं। इनका विस्तार केवल शुद्ध भक्तों के दिव्य सुख के लिए ही होता है। विभिन्न युगों तथा कालों में प्रकट होने वाले विष्णु के अवतारों की तुलना कभी भी बद्धजीवों से नहीं की जानी चाहिए। विष्णु तत्त्वों की तुलना ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवों से नहीं की जानी चाहिए, न ही वे समान स्तर पर हैं। जो भी इनकी तुलना करता है, वह पाषण्डी कहलाता है। यहाँ पर उल्लिखित *तमसः* भौतिक प्रकृति है। आध्यात्मिक प्रकृति का *तमसः* से सर्वथा पृथक् अस्तित्व है। इसीलिए आध्यात्मिक प्रकृति *अवबोध रस* अथवा *अवरोध रस* कहलाती है। *अवरोध* का अर्थ है “जो पूर्णतया निरस्त करे।” अध्यात्म में किसी भी साधन से भौतिक सम्पर्क की कोई सम्भावना नहीं रहती। ब्रह्मा पहले जीव हैं और इसलिए वे गर्भोदकशायी विष्णु के उदर से उत्पन्न कमल के फूल से अपने जन्म का उल्लेख करते हैं।

नातः परं परम यद्भवतः स्वरूप-

मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः ।

पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्

भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अतः परम्—इसके पश्चात्; परम—हे परमेश्वर; यत्—जो; भवतः—आपका; स्वरूपम्—नित्यरूप; आनन्द-मात्रम्—निर्विशेष ब्रह्मज्योति; अविकल्पम्—बिना परिवर्तन के; अविद्ध-वर्चः—शक्ति के ह्रास बिना; पश्यामि—देखता हूँ; विश्व-सृजम्—विराट जगत के स्रष्टा को; एकम्—अद्वय; अविश्वम्—फिर भी पदार्थ का नहीं; आत्मन्—हे परम कारण; भूत—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्मक—ऐसी पहचान से; मदः—गर्व; ते—आपके प्रति; उपाश्रितः—शरणागत; अस्मि—हूँ।

हे प्रभु, मैं आपके इस सच्चिदानन्द रूप से श्रेष्ठ अन्य कोई रूप नहीं देखता। वैकुण्ठ में आपकी निर्विशेष ब्रह्मज्योति में न तो यदाकदा परिवर्तन होता है और न अन्तरंगा शक्ति में कोई ह्रास आता है। मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूँ, क्योंकि जहाँ मैं अपने भौतिक शरीर तथा इन्द्रियों पर गर्वित हूँ वहीं आप विराट जगत का कारण होते हुए भी पदार्थ द्वारा अस्पृश्य हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में कहा गया है— *भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*—परमेश्वर को अंशतः ही जाना जा सकता है और वह भी एकमात्र भगवद्भक्ति के द्वारा। ब्रह्माजी को यह पता चल गया कि परमेश्वर कृष्ण के अनेकानेक सच्चिदानन्द रूप हैं। उन्होंने *ब्रह्म-*

संहिता (५.३३) में परमेश्वर गोविन्द के ऐसे अंशों का वर्णन निम्नवत् किया है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्

आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।

वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अद्वैत तथा अच्युत हैं। यद्यपि वे अनेकानेक रूपों में विस्तार करते हैं, किन्तु वे समस्त कारणों के आदि कारण हैं। यद्यपि वे सबसे पुराने व्यक्ति हैं, किन्तु वृद्धावस्था से अप्रभावित रहते हुए वे सदैव तरुण रहते हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को वेदों के किताबी ज्ञान से नहीं जाना जा सकता। उन्हें समझने के लिए भगवद्भक्त के पास जाना पड़ता है।”

भगवान् के यथारूप को समझने का एकमात्र उपाय या तो भगवद्भक्ति है या ऐसे भगवद्भक्त के पास जाना जिसके हृदय में भगवान् सदैव बसते हों। भक्ति की सिद्धि से यह समझा जा सकता है कि निर्विशेष ब्रह्मज्योति तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण का केवल आंशिक स्वरूप है और भौतिक सृष्टि में उनके तीन पुरुष-विस्तार उनके स्वांश हैं। ब्रह्मज्योति के आध्यात्मिक आकाश में कल्पों में भी कोई परिवर्तन नहीं आता और वैकुण्ठलोक में कोई सृजनात्मक कार्यकलाप नहीं होते। काल का प्रभाव उसकी अनुपस्थिति से ही सुस्पष्ट हो जाता है। भगवान् के दिव्य शरीर की किरणें अथवा असीम ब्रह्मज्योति भौतिक शक्ति के प्रभाव से अवरुद्ध नहीं होती हैं। भौतिक जगत में भी आदि स्रष्टा स्वयं भगवान् हैं। वे ब्रह्मा का सृजन करते हैं, जो भगवान् से शक्ति प्राप्त करके परवर्ती स्रष्टा बन जाते हैं।

तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय

ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम् ।

तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं

योऽनाहतो नरकभागिभरसत्प्रसङ्गैः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तत्—भगवान् श्रीकृष्ण; वा—अथवा; इदम्—यह वर्तमान स्वरूप; भुवन-मङ्गल—हे समस्त ब्रह्माण्डों के लिए सर्वमंगलमय; मङ्गलाय—समस्त सम्पन्नता के लिए; ध्याने—ध्यान में; स्म—मानो था; नः—हमको; दर्शितम्—प्रकट; ते—तुम्हारे; उपासकानाम्—भक्तों का; तस्मै—उनको; नमः—मेरा सादर नमस्कार; भगवते—भगवान् को; अनुविधेम—सम्पन्न करता हूँ; तुभ्यम्—तुमको; यः—जो; अनाहतः—उपेक्षित है; नरक-भागिभः—नरक जाने वाले व्यक्तियों द्वारा; असत्-प्रसङ्गैः—भौतिक कथाओं द्वारा।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण का यह वर्तमान रूप या उनके द्वारा विस्तार किया हुआ कोई भी दिव्य रूप सारे ब्रह्माण्डों के लिए समान रूप से मंगलमय है। चूँकि आपने यह नित्य साकार रूप प्रकट किया है, जिसका ध्यान आपके भक्त करते हैं, इसलिए मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। जिन्हें नरकगामी होना बड़ा है वे आपके साकार रूप की उपेक्षा करते हैं, क्योंकि वे लोग भौतिक विषयों की ही कल्पना करते रहते हैं।

तात्पर्य : जहाँ तक परब्रह्म के साकार तथा निर्विशेष रूपों की बात है, उनके साकार रूप भगवान् द्वारा समस्त ब्रह्माण्डों के मंगल हेतु विभिन्न स्वांशों के रूप में प्रदर्शित किये जाते हैं। भगवान् के साकार रूप की पूजा ध्यान द्वारा परमात्मा रूप में की जाती है, किन्तु निर्विशेष ब्रह्मज्योति की पूजा नहीं की जाती। जिन्हें भगवान् के निर्विशेष रूप की आसक्ति है, चाहे वह ध्यान में हो या अन्यत्र, वे सब नरकगामी होते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है कि निर्विशेषवादी व्यर्थ ही संसारी मानसिक चिन्तन में अपना समय बरबाद करते हैं, क्योंकि वे सत्य की अपेक्षा मिथ्या तर्कों में आसक्त रहते हैं। अतएव यहाँ पर ब्रह्मा ने निर्विशेषवादियों की संगति की निन्दा की है।

भगवान् के समस्त स्वांश समान रूप से शक्तिमान होते हैं, जैसी कि *ब्रह्म-संहिता* (५.४६) में पुष्टि की गई है—

दीपार्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य
दीपायते विवृतहेतुसमानधर्मा ।
यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

भगवान् अपना विस्तार उसी तरह करते हैं, जिस तरह अग्नि की लपटें एक के बाद दूसरे में करती हैं। यद्यपि आदि ज्योति अर्थात् श्रीकृष्ण को परम पुरुष गोविन्द के रूप में स्वीकार किया जाता है, किन्तु राम, नृसिंह तथा वराह जैसे अन्य सारे विस्तार इत्यादि भगवान् के ही समान शक्तिशाली होते हैं। ऐसे समस्त विस्तार दिव्य होते हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में यह स्पष्ट किया गया है कि परम सत्य (परब्रह्म) भौतिक स्पर्श से नित्य अकलुषित होते हैं। भगवान् के दिव्य राज्य में शब्दों तथा कर्मों का इन्द्रजाल नहीं है। भगवान् के सभी रूप दिव्य होते हैं और ऐसे प्रदर्शन सदा समान होते हैं। किसी भक्त

को प्रदर्शित भगवान् का कोई विशेष रूप लौकिक नहीं होता भले ही भक्त में भौतिक इच्छा शेष हो; न ही वह भौतिक शक्ति के प्रभाव के कारण प्रकट होता है जैसाकि निर्विशेषवादी मूर्खतावश मानते हैं। ऐसे निर्विशेषवादी, जो भगवान् के दिव्य रूपों को भौतिक जगत की उपज मानते हैं, निश्चित रूप से नरकगामी होते हैं।

ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं
जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम् ।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां
नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात्स्वपुंसाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ये—जो लोग; तु—लेकिन; त्वदीय—आपके; चरण-अम्बुज—चरणकमल; कोश—भीतर; गन्धम्—सुगन्ध; जिघ्रन्ति—सूँघते हैं; कर्ण-विवरैः—कानों के मार्ग से होकर; श्रुति-वात-नीतम्—वैदिक ध्वनि की वायु से ले जाये गये; भक्त्या—भक्ति द्वारा; गृहीत-चरणः—चरणकमलों को स्वीकार करते हुए; परया—दिव्य; च—भी; तेषाम्—उनके लिए; न—कभी नहीं; अपैषि—पृथक्; नाथ—हे प्रभु; हृदय—हृदय रूपी; अम्बु-रुहात्—कमल से; स्व-पुंसाम्—अपने ही भक्तों के।

हे प्रभु, जो लोग वैदिक ध्वनि की वायु द्वारा ले जाई गई आपके चरणकमलों की सुगन्ध को अपने कानों के द्वारा सूँघते हैं, वे आपकी भक्ति-मय सेवा को स्वीकार करते हैं। उनके लिए आप उनके हृदय रूपी कमल से कभी भी विलग नहीं होते।

तात्पर्य : भगवान् के शुद्ध भक्तों के लिए भगवान् के चरणकमलों से परे कुछ भी नहीं है और भगवान् जानते हैं कि ऐसे भक्तों को उससे अधिक कुछ चाहिए भी नहीं। तु शब्द विशेष रूप से इस तथ्य को स्थापित करता है। भगवान् भी उन शुद्ध भक्तों के हृदय-कमलों से विलग होना नहीं चाहते। शुद्ध भक्त तथा भगवान् के बीच का यह दिव्य सम्बन्ध होता है। चूँकि भगवान् ऐसे शुद्ध भक्तों के हृदयों से विलग नहीं होना चाहते, अतः यह समझा जाता है कि वे निर्विशेषवादियों की अपेक्षा उन्हें विशेष रूप से अधिक प्रिय हैं। भगवान् के साथ शुद्ध भक्त का सम्बन्ध इसलिए विकसित होता है, क्योंकि भक्त द्वारा वैदिक प्रमाण के वास्तविक आधार पर भगवान् की भक्तिमय सेवा की जाती है। ऐसे शुद्ध भक्त संसारी भावनावादी (भावुक) नहीं होते, अपितु वे वस्तुतः यथार्थवादी होते हैं, क्योंकि उनके कार्यों का समर्थन उन वैदिक अधिकारियों द्वारा होता है जिन्होंने वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित तथ्यों को श्रवण करके ग्रहण किया है।

परया शब्द अत्यन्त सार्थक है। पराभक्ति या ईश्वर का स्वतःस्फूर्त प्रेम भगवान् से घनिष्ठ सम्बन्ध का

आधार होता है। भगवान् के साथ सम्बन्ध की यह चरमावस्था प्रामाणिक स्रोतों से यथा *भगवद्गीता* तथा *भागवत* से, भगवान् के विषय में (उनके नाम, रूप, गुण, इत्यादि) भगवान् के विशुद्ध भक्तों के मुख से सुनकर प्राप्त की जा सकती है।

तावद्भयं द्रविणदेहसुहृन्निमित्तं

शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।

तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं

यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; भयम्—भय; द्रविण—सम्पत्ति; देह—शरीर; सुहृत्—सम्बन्धी जन; निमित्तम्—के लिए; शोकः—शोक; स्पृहा—इच्छा; परिभवः—साज-सामग्री; विपुलः—अत्यधिक; च—भी; लोभः—लालच; तावत्—उस समय तक; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; असत्—नश्वर; अवग्रहः—दुराग्रह; आर्ति-मूलम्—चिन्ता से पूर्ण; यावत्—जब तक; न—नहीं; ते—तुम्हारे; अङ्घ्रिम् अभयम्—सुरक्षित चरणकमल; प्रवृणीत—शरण लेते हैं; लोकः—संसार के लोग।

हे प्रभु, संसार के लोग समस्त भौतिक चिन्ताओं से उद्विग्न रहते हैं—वे सदैव भयभीत रहते हैं। वे सदैव धन, शरीर तथा मित्रों की रक्षा करने का प्रयास करते हैं, वे शोक तथा अवैध इच्छाओं एवं साज-सामग्री से पूरित रहते हैं तथा लोभवश “मैं” तथा “मेरे” की नश्वरधारणाओं पर अपने दुराग्रह को आधारित करते हैं। जब तक वे आपके सुरक्षित चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करते तब तक वे ऐसी चिन्ताओं से भरे रहते हैं।

तात्पर्य : कोई यह प्रश्न कर सकता है कि यदि कोई पारिवारिक मामलों के विचारों से उद्विग्न रहे तो किस तरह वह सदैव भगवान् के ही नाम, यश, गुण इत्यादि का चिन्तन कर सकता है? भौतिक जगत का हर व्यक्ति इन विचारों में डुबा रहता है कि वह किस तरह अपने परिवार का भरण-पोषण करे, किस तरह अपने धन की रक्षा करे, किस तरह अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों के साथ मिलकर चले। इस तरह वह यथास्थिति बनाये रखने के प्रयास में सदैव भय तथा शोक से ग्रस्त रहता है। इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप ब्रह्मा द्वारा कहा गया यह श्लोक अति उपयुक्त है।

भगवान् का शुद्ध भक्त कभी भी अपने को अपने घर का स्वामी नहीं मानता। वह हर वस्तु भगवान् के सर्वोच्च नियंत्रण पर छोड़ देता है, अतः उसे अपने परिवार के भरण-पोषण अथवा अपने परिवार के हितों की रक्षा करने का कोई भय नहीं सताता। इस शरणागति के कारण उसे सम्पत्ति के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता। यदि कोई आकर्षण रहता भी है, तो वह इन्द्रियतृप्ति के निमित्त न होकर

भगवान् की सेवा के प्रति होता है। हो सकता है कि शुद्ध भक्त भी सामान्य व्यक्ति की तरह धन जोड़ने के प्रति आकृष्ट होता हो, किन्तु अन्तर यह है कि भक्त भगवान् की सेवा हेतु धन अर्जित करता है, जबकि सामान्य व्यक्ति अपने इन्द्रियभोग के लिए। इस तरह भक्त के लिए धन का अर्जन, चिन्ता का कारण नहीं बनता जिस तरह वह सांसारिक व्यक्ति के लिए होता है। चूँकि भक्त हर वस्तु को भगवान् के सेवा-भाव के रूप में स्वीकार करता है, अतः धन संग्रह रूपी विषदन्त उखाड़ दिये जाते हैं। यदि साँप का विष निकाल दिया जाय और तब वह किसी व्यक्ति को काटे तो उसका प्रभाव घातक नहीं होता है। इसी तरह भगवान् के निमित्त अर्जित धन के विषैले दाँत नहीं होते हैं और इसका प्रभाव घातक नहीं होता। शुद्ध भक्त जगत में सामान्य व्यक्ति की तरह रहते हुए भी भौतिक सांसारिक मामलों के फंदे में नहीं फंसता।

दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गा-

त्सर्वाशुभोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया ये ।

कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना

लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

दैवेन—दुर्भाग्य से; ते—वे; हत-धियः—स्मृति से वंचित; भवतः—आपकी; प्रसङ्गात्—कथाओं से; सर्व—समस्त; अशुभ—अकल्याणकारी; उपशमनात्—शमन करते हुए; विमुख—के विरुद्ध बने हुए; इन्द्रियाः—इन्द्रियाँ; ये—जो; कुर्वन्ति—करते हैं; काम—इन्द्रिय-तृप्ति; सुख—सुख; लेश—अल्प; लवाय—क्षण भर के लिए; दीनाः—बेचारे; लोभ-अभिभूत—लोभ से ग्रसित; मनसः—मन वाले; अकुशलानि—अशुभ कार्यकलाप; शश्वत्—सदैव।

हे प्रभु, वे व्यक्ति जो आपके दिव्य कार्यकलापों के विषय में सर्वमंगलकारी कीर्तन तथा श्रवण करने से वंचित हैं निश्चित रूप से वे अभागे हैं और सद्बुद्धि से विहीन हैं। वे तनिक देर के लिए इन्द्रियतृप्ति का भोग करने हेतु अशुभ कार्यों में लग जाते हैं।

तात्पर्य : अगला प्रश्न है कि लोग भगवान् की महिमा तथा लीलाओं का श्रवण तथा कीर्तन करने जैसे शुभ कार्यों के विरुद्ध क्यों हैं जबकि ये कार्य संसार की सारी चिन्ताओं और झंझटों से पूर्ण स्वतंत्रता दिलाने वाले हैं? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है कि वे इन्द्रियतृप्ति के निमित्त ही किये गये अपने अपराधपूर्ण कार्यों पर अधिदैवी नियंत्रण के कारण अभागे हैं। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्तों को ऐसे अभागे लोगों पर तरस आता है और वे धर्मोपदेश के भाव में उन्हें भक्ति के मार्ग में लाने के लिए राजी करने का प्रयास करते हैं। केवल शुद्ध भक्तों की कृपा से ऐसे अभागे लोग दिव्य सेवा के पद तक

ऊपर उठ पाते हैं ।

क्षुत्त्रिधातुभिरिमा मुहुरर्द्यमानाः
शीतोष्णवातवरषैरितरेतराच्च ।
कामाग्निनाच्युतरुषा च सुदुर्भरण
सम्पश्यतो मन उरुक्रम सीदते मे ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

क्षुत्—भूख; तृत्—प्यास; त्रि-धातुभिः—तीन-रस, यथा कफ, पित्त तथा वायु; इमाः—ये सभी; मुहुः—सदैव; अर्द्यमानाः—व्यग्र; शीत—जाड़ा; उष्ण—गर्मी; वात—वायु; वरषैः—वर्षा द्वारा; इतर-इतरात्—तथा अन्य अनेक उत्पात; च—भी; काम-अग्निना—प्रबल यौन इच्छा से; अच्युत-रुषा—दुःसह क्रोध; च—भी; सुदुर्भरण—अत्यन्त असह्य; सम्पश्यतः—देखते हुए; मनः—मन; उरुक्रम—हे महान् कर्ता; सीदते—निराश होता है; मे—मेरा ।

हे महान् कर्ता, मेरे प्रभु, ये सभी दीन प्राणी निरन्तर भूख, प्यास, शीत, कफ तथा पित्त से व्यग्र रहते हैं, इन पर कफ युक्त शीतऋतु, भीषण गर्मी, वर्षा तथा अन्य अनेक क्षुब्ध करने वाले तत्त्व आक्रमण करते रहते हैं और ये प्रबल कामेच्छाओं तथा दुःसह क्रोध से अभिभूत होते रहते हैं । मुझे इन पर दया आती है और मैं इनके लिए अत्यन्त सन्तप्त रहता हूँ ।

तात्पर्य : ब्रह्मा जैसे शुद्ध भक्त तथा उनकी शिष्य-परम्परा के अन्य व्यक्ति उन बद्धजीवों की उलझनों को देखकर सदैव दुखी रहते हैं, जो शरीर तथा मन से जुड़ी, भौतिक प्रकृति तथा अन्य ऐसी ही अनेक भौतिक कुदशाओं से सम्बन्धित तीन प्रकार के तापों के प्रहारों से पीड़ित हैं । ऐसी कठिनाइयों से मुक्ति पाने के पर्याप्त उपाय न जानने से पीड़ित व्यक्ति कभी कभी अपने को लोगों का नेता बताते हैं और अभागे अनुयायी ऐसी तथाकथित नेतागिरी से और भी हानि उठाते हैं । यह तो एक अन्धे द्वारा दूसरे अन्धे का मार्गदर्शन करते हुए गड्डे में गिरा देने के समान है । अतएव जब तक भगवान् के भक्त इन पर दया नहीं दिखाते और इन्हें उचित मार्ग की शिक्षा नहीं देते तब तक इनके जीवन बुरी तरह से असफल होते रहते हैं । ऐसे भगवद्भक्त जो मूर्ख भौतिकतावादी इन्द्रिय-भोक्ताओं को ऊपर उठाने का भार स्वेच्छा से अपने ऊपर लेते हैं, ब्रह्मा के ही समान भगवान् के विश्वासपात्र होते हैं ।

यावत्पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थ-
मायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत् ।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसङ्क्रमेत
व्यर्थापि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; पृथक्त्वम्—विलगाव; इदम्—यह; आत्मनः—शरीर का; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रियतृप्ति के लिए; माया-बलम्—बहिरंगा शक्ति का प्रभाव; भगवतः—भगवान् का; जनः—व्यक्ति; ईश—हे प्रभु; पश्येत्—देखता है; तावत्—तब तक; न—नहीं; संसृतिः—भौतिक जगत का प्रभाव; असौ—वह मनुष्य; प्रतिसङ्क्रमेत—लाँघ सकता है; व्यर्था अपि—यद्यपि अर्थहीन; दुःख-निवहम्—अनेक दुख; वहती—लाते हुए; क्रिया-अर्था—सकाम कर्मों के लिए।

हे प्रभु, आत्मा के लिए भौतिक दुखों का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। फिर भी जब तक बद्धात्मा शरीर को इन्द्रिय भोग के निमित्त देखता है तब तक वह आपकी बहिरंगा शक्ति द्वारा प्रभावित होने से भौतिक कष्टों के पाश से बाहर नहीं निकल पाता।

तात्पर्य : भौतिक जगत में जीव का सारा कष्ट यह है कि उसे जीवन के स्वतंत्र होने की धारणा है। वह बद्ध तथा मुक्त दोनों ही दशाओं में सदैव परमेश्वर के नियमों पर आश्रित रहता है, किन्तु बहिरंगा शक्ति के प्रभाव से बद्धात्मा अपने को परमेश्वर की प्रभुता से मुक्त (स्वतंत्र) मानता है। उसकी स्वाभाविक स्थिति तो परमेश्वर की इच्छा से अपने को जोड़ना है, किन्तु जब तक वह ऐसा नहीं करता तब तक वह भवबन्धन की बेड़ियों में जकड़ा रहेगा। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.५५) में कहा गया है—*प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्*—उसे मनोरथ द्वारा तैयार की गई सभी प्रकार की योजनाओं का परित्याग करना होता है। जीव को अपने आपको परमेश्वर की इच्छा के साथ जोड़ना होता है। इससे भव-पाश से निकलने में उसे सहायता मिलेगी।

अहन्यापृतार्तकरणा निशि निःशयाना

नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः ।

दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव

युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अह्नि—दिन के समय; आपृत—व्यस्त; आर्त—दुखदायी कार्य; करणाः—इन्द्रियाँ; निशि—रात में; निःशयानाः—अनिद्रा; नाना—विविध; मनोरथ—मानसिक चिन्तन; धिया—बुद्धि द्वारा; क्षण—निरन्तर; भग्न—टूटी हुई; निद्राः—नींद; दैव—अतिमानवीय; आहत-अर्थ—हताश; रचनाः—योजनाएँ; ऋषयः—ऋषिगण; अपि—भी; देव—हे प्रभु; युष्मत्—आपकी; प्रसङ्ग—कथा से; विमुखाः—विरुद्ध; इह—इस (जगत) में; संसरन्ति—चक्कर लगाते हैं।

ऐसे अभक्तगण अपनी इन्द्रियों को अत्यन्त कष्टप्रद तथा विस्तृत कार्य में लगाते हैं और रात में अनिद्र रोग से पीड़ित रहते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि विविध मानसिक चिन्ताओं के कारण उनकी नींद को लगातार भंग करती रहती है। वे अतिमानवीय शक्ति द्वारा अपनी विविध योजनाओं में हताश कर दिए जाते हैं। यहाँ तक कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि यदि आपकी दिव्य

कथाओं से विमुख रहते हैं, तो वे भी इस भौतिक जगत में ही चक्कर लगाते रहते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में वर्णन आया है, जिन लोगों को भगवान् की भक्ति में रुचि नहीं होती वे भौतिक कार्यों में लगे रहते हैं। उनमें से अधिकांश लोग दिन के समय कठोर शारीरिक श्रम में लगे रहते हैं। उनकी इन्द्रियाँ भारी औद्योगिक संस्थान के भीमकाय कारखानों में कष्टप्रद कार्य करने में बुरी तरह लगी रहती हैं। ऐसे कारखानों के मालिक अपने औद्योगिक उत्पादों के लिए बाजार खोजने में लगे रहते हैं और मजदूर वर्ग विस्तृत उत्पादन में लगे रहते हैं जिसमें विशाल यांत्रिक व्यवस्था रहती है। कारखाना या फैक्ट्री नरक का दूसरा नाम है। रात्रि होने पर बुरी तरह से व्यस्त मनुष्य अपनी थकी हुई इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए शराब तथा स्त्रियों की शरण में जाते हैं, किन्तु तब भी उन्हें अच्छी नींद नहीं आती, क्योंकि उनकी नाना प्रकार की मानसिक चिन्ताओं वाली योजनाएँ उनकी नींद में निरन्तर व्यवधान डालती रहती हैं। अनिद्र रोग से पीड़ित होने के कारण कभी कभी पर्याप्त आराम के अभाव में उन्हें प्रातःकाल नींद सताने लगती है। आधिदैविक शक्ति की व्यवस्था द्वारा संसार के बड़े बड़े विज्ञानी तथा चिन्तक भी अपनी विविध योजनाओं के कारण हताश हो जाते हैं और इस तरह जन्म-जन्मांतर इस भौतिक जगत में सड़ते रहते हैं। भले ही कोई महान् विज्ञानी जगत के त्वरित संहार हेतु परमाणु शक्ति में खोजें करता हो और उसे अपनी सेवा (या कुसेवा) की मान्यता स्वरूप सर्वोत्कृष्ट पुरस्कार प्रदान किया जाय, किन्तु उसे भी भौतिक प्रकृति के अतिमानवीय नियम के अन्तर्गत बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमते हुए अपने कर्म का फल भोगना पड़ता है। ऐसे सारे लोग जो कि भक्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध होते हैं निश्चित रूप से उन्हें इस भौतिक जगत में चक्कर लगाना पड़ता है।

इस श्लोक में इसका विशेष उल्लेख है कि वे ऋषि भी, जो भगवान् की भक्ति के सिद्धान्त से विमुख रहते हैं, भौतिक जगत के अन्तर्गत बन्धन भोगने के लिए विवश हैं। न केवल इस युग में, अपितु इसके पूर्व भी ऐसे अनेक ऋषि हुए हैं जिन्होंने परमेश्वर की भक्ति का सन्दर्भ दिये बिना अपनी धर्म प्रणालियों का अविष्कार करने का प्रयास किया, किन्तु भगवद्भक्ति के बिना कोई भी धार्मिक सिद्धान्त नहीं चल सकता। परमेश्वर सम्पूर्ण जीव जगत के नायक हैं और कोई भी व्यक्ति उनके तुल्य या उनसे बढ़कर नहीं हो सकता। यहाँ तक कि भगवान् के निर्विशेष रूप तथा सर्वव्यापक अन्तर्यामी रूप भी परमेश्वर की बराबरी नहीं कर सकते। अतएव भक्ति के बिना जीवों की प्रगति हेतु कोई धर्म या

असली दर्शन पद्धति सम्भव नहीं हो सकती।

वे निर्विशेषवादी जो आत्म-मोक्ष के लिए तपस्या करने में काफी कष्ट उठाते हैं भले ही निर्विशेष ब्रह्मज्योति तक पहुँच लें, किन्तु अन्ततः भक्ति में स्थित न होने से वे पुनः भौतिक जगत में आ गिरते हैं और पुनः भवबन्धन को भोगते हैं। इसकी पुष्टि इस प्रकार होती है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनाहतयुष्मदङ्घ्रियः ॥

“वे व्यक्ति जो भगवान् की भक्ति के बिना ही मुक्त होने के झूठे बहकावे में रहते हैं, ब्रह्मज्योति के लक्ष्य तक भले ही पहुँच लें, किन्तु अपनी अशुद्ध चेतना के कारण तथा वैकुण्ठलोकों में आश्रय के अभाव में तथाकथित मुक्त लोग पुनः भौतिक संसार में आ गिरते हैं।” (भागवत १०.२.३२)

इसलिए कोई भी व्यक्ति भगवान् की भक्ति के सिद्धान्त के बिना किसी धर्म-प्रणाली का निर्माण नहीं कर सकता। जैसाकि श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध में हमें मिलता है, धर्म के प्रवर्तक स्वयं भगवान् हैं। भगवद्गीता में भी हम पाते हैं कि भगवान् की शरण ग्रहण करने के अतिरिक्त धर्म के अन्य सभी रूपों की भर्त्सना की गई है। कोई भी प्रणाली जो मनुष्य को भगवद्भक्ति तक ले जाती है, वही असली धर्म या दर्शन है। छठे स्कन्ध में हम अश्रद्दालु जीवों के नियंत्रक यमराज का निम्नलिखित कथन पाते हैं—

धर्म तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतं न वै विधुर्ऋषयो नापि देवाः ।

न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः कुतो नु विद्याधर चारणादयः ॥

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः ।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिवैयासकिर्वयम् ॥

द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः ।

गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥

“धर्म के सिद्धान्तों का प्रवर्तन भगवान् द्वारा होता है और ऋषियों तथा देवताओं सहित अन्य कोई भी ऐसे सिद्धान्तों का निर्माण नहीं कर सकता। चूँकि बड़े-बड़े ऋषि तथा देवता तक धर्म के ऐसे सिद्धान्तों का प्रवर्तन करने के अधिकारी नहीं होते तो अन्यो के विषय में—तथाकथित योगियों, असुरों,

मनुष्यों, तथा निम्नलोक के निवासी विद्याधरों तथा चारणों के विषय में—क्या कहा जा सकता है ? ब्रह्मा, नारद, शिवजी, कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद महाराज, जनक महाराज, भीष्म, बलि, शुकदेव गोस्वामी तथा यमराज—ये बारह अभिकर्ता भगवान् द्वारा धर्म के सिद्धान्तों के विषय में बोलने तथा उसका प्रचार करने के लिए अधिकृत हैं।''(भागवत ६.३.१९-२१)

धर्म के सिद्धान्त किसी सामान्य जीव के लिए खुले नहीं होते। वे मानव को नैतिकता के स्तर पर लाने के लिए होते हैं। अहिंसा इत्यादि तो दिग्भ्रमित व्यक्तियों के लिए आवश्यक हैं, क्योंकि जब तक कोई व्यक्ति नैतिक तथा अहिंसक नहीं बनता वह धर्म के सिद्धान्तों को नहीं समझ सकता। वास्तव में धर्म क्या है उसे समझ पाना उस व्यक्ति के लिए भी अत्यन्त कठिन होता है, जो नैतिकता तथा अहिंसा के सिद्धान्तों को प्राप्त होता है। यह अत्यन्त गुह्य है, क्योंकि धर्म के असली सिद्धान्तों से अवगत होते ही मनुष्य मुक्त होकर आनन्द तथा ज्ञान का शाश्वत जीवन बिताता है। अतएव जो व्यक्ति भगवान् की भक्ति के सिद्धान्तों को प्राप्त नहीं है उसे अपने को अबोध जनता का धार्मिक नेता बनने का स्वाँग नहीं रचना चाहिए। ईशोपनिषद् ने निम्नलिखित मंत्र में इस बकवास का बलपूर्वक निषेध किया है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥

(ईशोपनिषद् १२)

अतः धर्म के नाम पर भक्ति के असली धार्मिक सिद्धान्तों का सन्दर्भ दिये बिना जो अन्य लोगों को गुमराह बनाता है उस व्यक्ति से श्रेष्ठतर, धर्म के सिद्धान्तों से अनजान व्यक्ति है, जो धर्म के मामलों में कुछ भी नहीं करता। धर्म के ऐसे तथाकथित नेताओं की भर्त्सना ब्रह्मा तथा अन्य महाजनों द्वारा अवश्य की जाएगी।

त्वं भक्तियोगपरिभावितहृत्सरोज

आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।

यद्यद्विद्या त उरुगाय विभावयन्ति

तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुमको; भक्ति-योग—भक्ति में; परिभावित—शत प्रतिशत लगे रहकर; हृत्—हृदय के; सरोजे—कमल में; आस्से—निवास करते हो; श्रुत-ईक्षित—कान के माध्यम से देखा हुआ; पथः—पथ; ननु—अब; नाथ—हे स्वामी; पुंसाम्—भक्तों का; यत्-यत्—जो जो; धिया—ध्यान करने से; ते—तुम्हारा; उरुगाय—हे बहुख्यातिवान्; विभावयन्ति—विशेष रूप से चिन्तन करते हैं; तत्-तत्—वही वही; वपुः—दिव्य स्वरूप; प्रणयसे—प्रकट करते हो; सत्-अनुग्रहाय—अपनी अहैतुकी कृपा दिखाने के लिए।

हे प्रभु, आपके भक्तगण प्रामाणिक श्रवण विधि द्वारा कानों के माध्यम से आपको देख सकते हैं और इस तरह उनके हृदय विमल हो जाते हैं तथा आप वहाँ पर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं। आप अपने भक्तों पर इतने दयालु हैं कि आप अपने को उस अध्यात्म के विशेष नित्य रूप में प्रकट करते हैं जिसमें वे सदैव आपका चिन्तन करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर यह कथन कि भगवान् उस रूप में भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं जिस रूप में वह उनकी पूजा करना चाहता है, यह संकेत करता है कि भगवान् भक्त की इच्छा के अधीन हो जाते हैं—इतने अधिक कि वे भक्त की माँग के अनुसार अपना विशिष्ट रूप प्रकट करते हैं। भगवान् भक्त की इस माँग को पूरा करते हैं, क्योंकि वे भक्त की दिव्य प्रेमपूर्ण सेवा के अनुसार लचीले होते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.११) में भी हुई है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*। किन्तु यह हमें ध्यान रखना चाहिए कि भगवान् कभी भी भक्त के आदेशवाहक नहीं होते। इस श्लोक में इसका विशेष उल्लेख है—*त्वं भक्तियोगपरिभावित*। यह उस दक्षता का सूचक है, जो भगवान् की परिपक्व *प्रेमाभक्ति* सम्पन्न करने से प्राप्त की जाती है। यह प्रेमावस्था श्रद्धा से प्रेम की क्रमशः विकास-विधि द्वारा प्राप्त की जाती है। श्रद्धा से मनुष्य प्रामाणिक भक्तों की संगति करता है और ऐसी संगति से वह प्रामाणिक भक्ति में संलग्न हो सकता है, जिसमें उचित दीक्षा तथा शास्त्र द्वारा संस्तुत मूल भक्तिमय कार्यों की सम्पन्नता निहित रहती है। इसे यहाँ पर *श्रुतेक्षित* शब्द द्वारा स्पष्ट रूप से सूचित किया गया है। *श्रुतेक्षित* मार्ग में उन प्रामाणिक भक्तों से सुनना होता है, जो वैदिक ज्ञान में पारंगत होते हैं और संसारी आवेश से मुक्त होते हैं। इस प्रामाणिक श्रवण विधि से नवदीक्षित भक्त समस्त भौतिक गंदगी से रहित हो जाता है और इस तरह वह भगवान् के अनेक दिव्य रूपों में से किसी एक के प्रति अनुरक्त हो जाता है जिनका वेदों में वर्णन हुआ है।

भगवान् के किसी विशेष रूप के प्रति भक्त की यह आसक्ति स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण होती है। प्रत्येक जीव मूलतः किसी विशेष प्रकार की दिव्य सेवा के साथ जुड़ा हुआ है, क्योंकि वह भगवान् का

नित्य दास है। श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि जीव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का नित्य दास है। अतः हर जीव का भगवान् के साथ एक विशेष प्रकार का नित्य-दास का सम्बन्ध होता है। यह विशेष आसक्ति भगवान् की वैधी भक्ति के अभ्यास से जागृत होती है और इस तरह भक्त भगवान् के नित्य रूप के साथ उसी तरह जुड़ जाता है, जिस तरह कि पहले से ही नित्य आसक्त व्यक्ति होता है। भगवान् के ऐसे विशेष रूप के प्रति यह आसक्ति स्वरूप सिद्धि कहलाती है। भगवान् शुद्ध भक्त के इच्छित नित्य रूप में भक्त के हृदय कमल में आसीन हो जाते हैं और इस तरह भगवान् भक्त से विलग नहीं होते जैसी कि पिछले श्लोक में पुष्टि की गई है। किन्तु भगवान् किसी आकस्मिक या अप्रामाणिक पूजक के समक्ष अपना उद्घाटन नहीं करते। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.२५) में हुई है— *नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः*। प्रत्युत भगवान् अपनी योगमाया द्वारा उन अभक्तों या आकस्मिक भक्तों से अपने को गोपित रखते हैं, जो अपनी इन्द्रियतृप्ति की सेवा में लगे होते हैं। भगवान् कभी भी उन छद्म भक्तों को दृष्टिगोचर नहीं होते जो विश्व के मामलों का भार सँभालने वाले देवताओं की पूजा करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् कभी छद्म भक्त के आदेशवाहक नहीं बन सकते, अपितु वे उस शुद्ध अबद्ध भक्त की इच्छाओं को पूरा करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं, जो समस्त प्रकार के भौतिक दूषण से रहित होता है।

नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारै-

राराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः ।

यत्सर्वभूतदययासदलभ्ययैको

नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अति—अत्यधिक; प्रसीदति—तुष्ट होता है; तथा—जितना; उपचित—ठाठबाट से; उपचारैः—पूजनीय साज सामग्री सहित; आराधितः—पूजित होकर; सुर-गणैः—देवताओं द्वारा; हृदि बद्ध-कामैः—समस्त प्रकार की भौतिक इच्छाओं से पूरित हृदय से; यत्—जो; सर्व—समस्त; भूत—जीव; दयया—उन पर अहैतुकी कृपा दिखाने के लिए; असत्—अभक्त; अलभ्यया—प्राप्त न हो सकने से; एकः—अद्वितीय; नाना—विविध; जनेषु—जीवों में; अवहितः—अनुभूत; सुहृत्—शुभेच्छु मित्र; अन्तः—भीतर; आत्मा—परमात्मा ।

हे प्रभु, आप उन देवताओं की पूजा से बहुत अधिक तुष्ट नहीं होते जो आपकी पूजा अत्यन्त ठाठ-बाट से तथा विविध साज-सामग्री के साथ करते तो हैं, किन्तु भौतिक लालसाओं से पूर्ण होते हैं। आप हर एक के हृदय में परमात्मा के रूप में अपनी अहैतुकी कृपा दर्शाने के लिए स्थित

रहते हैं। आप नित्य शुभचिन्तक हैं, किन्तु आप अभक्तों के लिए अनुपलब्ध हैं।

तात्पर्य : भौतिक मामलों के लिए नियुक्त प्रशासक देवलोक के देवता भी भगवान् के भक्त हैं। किन्तु इसी के साथ उनमें भौतिक ऐश्वर्य तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए इच्छाएँ होती हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे उन्हें उनकी इच्छा से भी अधिक समस्त प्रकार का भौतिक सुख प्रदान करते हैं, किन्तु वे उनसे तुष्ट नहीं रहते, क्योंकि वे शुद्ध भक्त नहीं हैं। भगवान् यह नहीं चाहते कि उनके असंख्य पुत्रों (जीवों) में कोई भी तीन तापों वाले भौतिक जगत में रहकर जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग के भौतिक कष्टों को लगातार भोगता रहे। स्वर्गलोक के देवता तथा इस लोक के अनेक भक्त भी भौतिक जगत में भगवद्भक्त बने रहकर भौतिक सुख का लाभ उठाना चाहते हैं। वे जीवन के निम्न पद पर आ गिरने का जोखिम उठाकर ऐसा करते हैं जिससे भगवान् उनसे असन्तुष्ट रहते हैं।

शुद्ध भक्तों को न तो किसी भौतिक भोग की आकांक्षा रहती है, न ही वे उससे विमुख रहते हैं। वे भगवान् की इच्छाओं से अपनी इच्छाओं को जोड़ देते हैं और अपने लिए वे कुछ भी नहीं करते। इसका उत्तम उदाहरण अर्जुन है। अर्जुन अपनी भावनाओं से पारिवारिक स्नेहवश युद्ध नहीं करना चाहता था, किन्तु *श्रीमद्भगवद्गीता* सुनने के बाद उसने भगवान् की इच्छा के लिए लड़ना स्वीकार किया। अतएव भगवान् शुद्ध भक्तों से अत्यधिक सन्तुष्ट रहते हैं, क्योंकि वे अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म न करके एकमात्र भगवान् की इच्छा के अनुसार कर्म करते हैं। परमात्मा रूप में वे हर एक के हृदय में सदैव स्थित रहते हैं और हर एक को अच्छी सलाह से लाभ उठाने का अवसर प्रदान करते हैं। अतः हर व्यक्ति को चाहिए कि इस अवसर का लाभ उठाते हुए पूर्ण मनोयोग से केवल उन्हीं की दिव्य प्रेमाभक्ति करे।

किन्तु अभक्तगण न तो देवताओं जैसे होते हैं न शुद्ध भक्तों जैसे, अपितु वे भगवान् के साथ दिव्य सम्बन्ध बनाने से विमुख रहते हैं। उन्होंने भगवान् के प्रति विद्रोह किया है; इसलिए उन्हें निरन्तर अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है।

भगवद्गीता (४.११) में कहा गया है : *ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—यद्यपि भगवान् हर जीव पर समान रूप से कृपालु हैं, किन्तु जीव अपनी ओर से भगवान् को कम या ज्यादा प्रसन्न कर सकते हैं। देवता सकाम भक्त कहलाते हैं अर्थात् वे भक्त जिनके मनो में भौतिक इच्छाएँ होती हैं, किन्तु

शुद्ध भक्त निष्काम भक्त कहलाते हैं, क्योंकि उनकी अपने निजी स्वार्थ के लिए इच्छाएँ नहीं होतीं। सकाम भक्त स्वःहितार्थी होते हैं, क्योंकि वे अन्यो के विषय में नहीं सोचते, अतएव वे भगवान् को पूरी तरह से तुष्ट नहीं कर पाते, जबकि शुद्ध भक्तगण अभक्तों को भक्तों में बदलने के धर्मप्रचार का उत्तरदायित्व निभाते हैं, अतः वे भगवान् को देवताओं की अपेक्षा अधिक तुष्ट कर पाते हैं। भगवान् अभक्तों की ओर ध्यान भी नहीं देते यद्यपि वे हर एक के हृदय के भीतर शुभेच्छु तथा परमात्मा के रूप में आसीन रहते हैं। किन्तु वे उन्हें भी अपने ऐसे शुद्ध भक्तों के माध्यम से अपनी कृपा प्राप्त करने का अवसर प्रदान करते हैं, जो धर्मप्रचार कार्यों में लगे हुए हैं। कभी-कभी भगवान् स्वयं ही धर्म प्रचार के कार्यों के लिए अवतरित होते हैं जैसाकि चैतन्य महाप्रभु के रूप में किया था। किन्तु अधिकांशतया वे अपने प्रामाणिक प्रतिनिधियों को भेजते हैं और इस तरह वे अभक्तों के प्रति अपनी अहैतुकी कृपा प्रदर्शित करते हैं। भगवान् अपने शुद्ध भक्तों से इतना तुष्ट रहते हैं कि वे उन्हें धर्म प्रचार की सफलता का श्रेय देना चाहते हैं, यद्यपि वे इस कार्य को स्वयं कर सकते थे। सकाम भक्तों की तुलना में, अपने शुद्ध निष्काम भक्तों के साथ उनकी तुष्टि का यही संकेत है। भगवान् ऐसे दिव्यकार्यों के साथ ही पक्षपात के आरोप से मुक्त रहते हैं और अपने भक्तों के साथ अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है : यदि भगवान् अभक्तों के हृदय में भी आसीन रहते हैं, तो फिर वे भक्त बनने के लिए प्रेरित क्यों नहीं होते ? इसका उत्तर यह है कि ढीठ अभक्त उस बंजड़ या ऊसर खेत की तरह हैं जहाँ कोई भी कृषि-कार्य सफल नहीं हो सकता। भगवान् का भिन्नांश होने से पृथक् जीव को स्वल्प स्वतंत्रता प्राप्त है और इस स्वल्प स्वतंत्रता का दुरुपयोग करके अभक्तगण भगवान् तथा धर्म प्रचार के कार्य में लगे उनके शुद्ध भक्त, दोनों ही के प्रति अपराध पर अपराध करते जाते हैं। ऐसे कार्यों के परिणामस्वरूप वे ऊसर खेत की तरह बंजड़ बन जाते हैं जिसमें उत्पादन कर पाने की कोई शक्ति नहीं रहती।

पुंसामतो विविधकर्मभिरध्वराद्यै-

दानेन चोग्रतपसा परिचर्यया च ।

आराधनं भगवतस्तव सत्क्रियार्थो

धर्मोऽर्पितः कर्हिचिदिम्यते न यत्र ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पुंसाम्—लोगों का; अतः—इसलिए; विविध-कर्मभिः—नाना प्रकार के सकाम कर्मों द्वारा; अध्वर-आह्वैः—वैदिक अनुष्ठान सम्पन्न करने से; दानेन—दान के द्वारा; च—तथा; उग्र—अत्यन्त कठोर; तपसा—तपस्या से; परिचर्यया—दिव्य सेवा द्वारा; च—भी; आराधनम्—पूजा; भगवतः—भगवान् की; तव—तुम्हारा; सत्-क्रिया-अर्थः—एकमात्र आपको प्रसन्न करने के लिए; धर्मः—धर्म; अर्पितः—इस प्रकार अर्पित; कर्हिचित्—किसी समय; म्रियते—विनष्ट होता है; न—कभी नहीं; यत्र—वहाँ।

किन्तु वैदिक अनुष्ठान, दान, कठोर तपस्या तथा दिव्य सेवा जैसे पुण्य कार्य भी, जो लोगों द्वारा सकाम फलों को आपको अर्पित करके आपकी पूजा करने तथा आपको तुष्ट करने के उद्देश्य से किये जाते हैं, लाभप्रद होते हैं। धर्म के ऐसे कार्य व्यर्थ नहीं जाते।

तात्पर्य : परम भक्ति जो नौ विभिन्न आध्यात्मिक कार्य—यथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वन्दन इत्यादि द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं, तड़क-भड़क स्वभाव के लोगों को सदैव अच्छी नहीं लगती। वे तो वैदिक बाह्य अनुष्ठानों तथा सामाजिक धार्मिक दिखावे के दूसरे खर्चीले प्रदर्शनों से अधिक आकृष्ट होते हैं। किन्तु वैदिक आदेशों के अनुसार विधि यह है कि सारे पुण्य कर्मों के फल परमेश्वर को अर्पित किये जाँय। *भगवद्गीता* (९.२७) में भगवान् यह माँग करते हैं कि मनुष्य दैनिक कार्यों में जो भी करे यथा पूजा, यज्ञ तथा दान, उन सबका फल एकमात्र उन्हें ही अर्पित किया जाय। परमेश्वर को पुण्य कर्मों के फलों का यह अर्पण भगवान् की भक्ति का एक लक्षण है, जिसका स्थायी महत्त्व होता है, जबकि अपने लिए उन फलों का भोग केवल क्षणिक ही होता है। भगवान् के निमित्त किया गया कोई भी कार्य स्थायी निधि है और यह भगवान् की शुद्ध भक्ति तक क्रमशः उन्नति के लिए अदृश्य पुण्य के रूप में संचित होती है। ये अलक्षित पुण्य कर्म एक न एक दिन परमेश्वर की कृपा से पूर्ण भक्ति के रूप में प्रतिफलित होंगे। अतएव परमेश्वर के निमित्त किये गये किसी भी पुण्य कर्म की संस्तुति यहाँ पर उन लोगों के लिए भी की जाती है, जो शुद्ध भक्त नहीं हैं।

शश्वत्स्वरूपमहसैव निपीतभेद-

मोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै ।

विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्तलीला-

रासाय ते नम इदं चकृमेश्वराय ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

शश्वत्—शाश्वत रूप से; स्वरूप—दिव्य रूप; महसा—महिमा के द्वारा; एव—निश्चय ही; निपीत—विभेदित; भेद—अन्तर; मोहाय—मोहमयी धारणा के हेतु; बोध—आत्म-ज्ञान; धिषणाय—बुद्धि; नमः—नमस्कार; परस्मै—ब्रह्मा को; विश्व-उद्भव—

विराट जगत की सृष्टि; स्थिति—पालन; लयेषु—संहार भी; निमित्त—के हेतु; लीला—ऐसी लीलाओं से; रासाय—भोग हेतु; ते—तुम्हें; नमः—नमस्कार; इदम्—यह; चक्रे—मैं करता हूँ; ईश्वराय—परमेश्वर को।

मैं उन परब्रह्म को नमस्कार करता हूँ जो अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा शाश्वत विशिष्ट अवस्था में रहते हैं। उनका विभेदित न किया जा सकने वाला निर्विशेष स्वरूप आत्म-साक्षात्कार हेतु बुद्धि द्वारा पहचाना जाता है। मैं उनको नमस्कार करता हूँ जो अपनी लीलाओं के द्वारा विराट जगत के सृजन, पालन तथा संहार का आनन्द लेते हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा जीवों से सदैव विभेदित होते हैं, यद्यपि वे स्वरूपसिद्ध बुद्धि के द्वारा अपने निर्विशेष रूप में भी समझे जाते हैं। अतएव भगवद्भक्त भगवान् के निर्विशेष रूप को सादर नमस्कार करते हैं। यहाँ पर *रास* शब्द महत्त्वपूर्ण है। रासनृत्य भगवान् कृष्ण द्वारा गोपियों के संग में वृन्दावन में सम्पन्न किया जाता है और गर्भोदकशायी विष्णु भी अपनी उस बहिरंगा शक्ति के साथ रास के भोग में लगे रहते हैं जिसके द्वारा वे सम्पूर्ण भौतिक जगत का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से ब्रह्माजी उन भगवान् श्रीकृष्ण को सादर नमस्कार करते हैं, जो सदैव गोपियों के साथ रासभोग में लगे रहते हैं जिसकी पुष्टि *गोपाल तापनी उपनिषद्* में निम्नलिखित शब्दों द्वारा हुई है—*परार्थान्ते सोऽबुध्यत गोपवेशो मे पुरुषः पुरस्तादाविर्बभूव*

भगवान् तथा जीव के बीच का अन्तर स्पष्ट रूप से तब अनुभव किया जाता है जब उनकी अन्तरंगा शक्ति को समझने के लिए पर्याप्त बुद्धि होती है, जो उस बहिरंगा शक्ति से भिन्न है, जिसके द्वारा वे भौतिक सृष्टि को सम्भव बनाते हैं।

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि

नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।

तेऽनैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा

संयान्त्यपावृतामृतं तमजं प्रपद्ये ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अवतार—अवतार; गुण—दिव्य गुण; कर्म—कर्म; विडम्बनानि—सभी रहस्यमय; नामानि—दिव्य नाम; ये—वे; असु-विगमे—इस जीवन को छोड़ते समय; विवशाः—स्वतः; गृणन्ति—आवाहन करते हैं; ते—वे; अनैक—अनेक; जन्म—जन्म; शमलम्—संचित पाप; सहसा—तुरन्त; एव—निश्चय ही; हित्वा—त्याग कर; संयान्ति—प्राप्त करते हैं; अपावृत—खुली; अमृतम्—अमरता; तम्—उस; अजम्—अजन्मा की; प्रपद्ये—मैं शरण लेता हूँ।

मैं उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करता हूँ जिनके अवतार, गुण तथा कर्म सांसारिक मामलों के रहस्यमय अनुकरण हैं। जो व्यक्ति इस जीवन को छोड़ते समय अनजाने में भी उनके

दिव्य नाम का आवाहन करता है उसके जन्म-जन्म के पाप तुरन्त धुल जाते हैं और वह उन भगवान् को निश्चित रूप से प्राप्त करता है।

तात्पर्य : भगवान् के अवतारों के कार्यकलाप एक प्रकार से उन कार्यों के अनुकरण हैं, जो भौतिक जगत में चलते रहते हैं। वे मंच पर अभिनेता के समान हैं। अभिनेता मंच पर राजा के कार्यकलापों की नकल उतारता है यद्यपि वह सचमुच में राजा नहीं होता। इसी तरह जब भगवान् अवतरित होते हैं, तो वे ऐसी भूमिकाओं का अनुकरण करते हैं जिनसे उन्हें कुछ भी लेना देना नहीं होता। *भगवद्गीता* (४.१४) में कहा गया है कि भगवान् को उन कार्यों से कुछ भी लेना देना नहीं होता जिनमें वे लगे हुए प्रतीत होते हैं—*न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा*। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं। वे अपनी इच्छामात्र से कोई भी कार्य अथवा प्रत्येक कार्य कर सकते हैं। जब वे कृष्ण के रूप में अवतरित हुए तो उन्होंने यशोदा तथा नन्द के पुत्र-रूप में भूमिका निभाई और उन्होंने गोवर्धन पर्वत उठाया, यद्यपि पर्वत उठाना उनका कार्य नहीं है। वे अपनी इच्छामात्र से लाखों गोवर्धन पर्वतों को उठा सकते हैं। उन्हें अपने हाथ से उसे उठाने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु वे इसे उठा कर सामान्य जीव का अनुकरण करते हैं और साथ ही वे अपनी आधिदैविक शक्ति को दिखाते हैं। इस तरह उनको गोवर्धनधारी नाम से भी पुकारा जाता है। अतः उनके अवतार-रूप के कार्य और भक्तों के प्रति पक्षपात अनुकरण-मात्र हैं जिस तरह कि मंच के दक्ष अभिनेता का वेश होता है। किन्तु उस रूप में उनके सारे कार्य सर्वशक्तिमान के होते हैं और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अवतारों के ऐसे कार्यों का स्मरण उतना ही शक्तिशाली होता है जितना कि साक्षात् उनका। अजामिल ने अपने पुत्र नारायण के नाम को पुकार करके भगवान् नारायण के पवित्र नाम का स्मरणमात्र किया था, और इससे उसे जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने का पूरा पूरा अवसर प्राप्त हो गया।

यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च
स्थित्युद्धवप्रलयहेतव आत्ममूलम् ।
भित्त्वा त्रिपाद्वृध एक उरुप्ररोहस्
तस्मै नमो भगवते भुवनद्भुमाय ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; वै—निश्चय ही; अहम् च—मैं भी; गिरिशः च—शिव भी; विभुः—सर्वशक्तिमान; स्वयम्—स्वयं (विष्णु रूप में);
च—तथा; स्थिति—पालन; उद्भव—सृजन; प्रलय—संहार; हेतवः—कारण; आत्म-मूलम्—स्वतःस्थित; भित्त्वा—भेदकर;
त्रि-पात्—तीन तने; ववृधे—उगा; एकः—अद्वितीय; उरु—अनेक; प्ररोहः—शाखाएँ; तस्मै—उसे; नमः—नमस्कार;
भगवते—भगवान् को; भुवन-द्रुमाय—लोक रूपी वृक्ष को ।

आप लोक रूपी वृक्ष की जड़ हैं। यह वृक्ष सर्वप्रथम भौतिक प्रकृति को तीन तनों के रूप में—मुझ, शिव तथा सर्वशक्तिमान आपके रूप में—सृजन, पालन तथा संहार के लिए भेदकर निकला है और हम तीनों से अनेक शाखाएँ निकल आई हैं। इसलिए हे विराट जगत रूपी वृक्ष, मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : विराट जगत मोटे तौर पर तीन जगत्तों में—उच्चतर, निम्न तथा मध्य लोकों में—विभाजित है और तब परम मूल रूप भगवान् के प्राकट्य से यह विराट जगत चौदह लोकों में फैल जाता है। भौतिक प्रकृति, जो विराट जगत का कारण प्रतीत होती है, केवल कारण अथवा भगवान् की शक्ति है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (९.१०) में हुई है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्—* “केवल भगवान् के अधीक्षण में भौतिक प्रकृति समस्त सृजन, पालन तथा संहार का कारण प्रतीत होती है।” भगवान् पालन, सृजन, तथा संहार के लिए अपना विस्तार क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव इन तीन रूपों में करते हैं। प्रकृति के तीन गुणों के नियंत्रण के इन तीन प्रमुख अभिकर्ताओं में विष्णु सर्वशक्तिमान हैं। यद्यपि वे भौतिक प्रकृति में पालन के निमित्त हैं, किन्तु वे प्रकृति के नियमों द्वारा नियंत्रित नहीं होते। अन्य दो, ब्रह्मा तथा शिव, यद्यपि लगभग विष्णु जितने ही शक्तिशाली हैं, किन्तु वे भगवान् की भौतिक शक्ति के अधीन होते हैं। भौतिक प्रकृति के कई विभागों के अनेक देवताओं द्वारा नियंत्रण किए जाने की विचारधारा मूर्ख सर्वात्मवादी के मन की गन्दी उपज है। ईश्वर अद्वय हैं और वे समस्त कारणों के कारण हैं। जिस तरह सरकारी कामकाज के अनेक विभागीय अध्यक्ष होते हैं उसी तरह ब्रह्माण्ड के कामकाज की व्यवस्था के लिए अनेक अध्यक्ष हैं।

निर्विशेषवादी अल्पज्ञान के कारण यथारूप वस्तुओं की स्वयं की व्यवस्था में विश्वास नहीं करते। किन्तु इस श्लोक में स्पष्ट बताया गया है कि हर वस्तु साकार है, वह निराकार या निर्विशेष नहीं है। प्रस्तावना में हम पहले ही इस बात की व्याख्या कर चुके हैं और इस श्लोक में इसकी पुष्टि हुई है। भौतिक जगत रूपी वृक्ष का वर्णन भगवद्गीता में उस *अश्वत्थ* वृक्ष के रूप में हुआ है, जिसकी जड़ें ऊपर को हैं। जब हम किसी जलाशय के तटवर्ती वृक्ष के प्रतिबिम्ब को देखते हैं, तो हमें ऐसे ही वृक्ष

का वास्तविक अनुभव होता है। जल में वृक्ष का प्रतिबिम्ब इसकी ऊर्ध्वमुखी जड़ों से नीचे लटकता प्रतीत होता है। यहाँ जिस सृष्टि रूपी वृक्ष का वर्णन हुआ है, वह सत्य का प्रतिबिम्ब मात्र है और यह सत्य परब्रह्म, विष्णु हैं। वैकुण्ठलोकों की आन्तरिक शक्तिमान अभिव्यक्ति में वास्तविक वृक्ष विद्यमान है और भौतिक प्रकृति में प्रतिबिम्बित वृक्ष इसी वास्तविक वृक्ष का प्रतिबिम्ब मात्र है। निर्विशेषवादियों का यह सिद्धान्त कि ब्रह्म समस्त विविधता से शून्य होता है, झूठा है, क्योंकि *भगवद्गीता* में वर्णित प्रतिबिम्बित वृक्ष असली वृक्ष के प्रतिबिम्ब होने के बिना विद्यमान नहीं रह सकता। असली वृक्ष आध्यात्मिक प्रकृति के नित्य अस्तित्व में स्थित रहता है, जो दिव्य विविधता से पूर्ण है और भगवान् विष्णु उस वृक्ष की भी जड़ हैं। असली तथा मिथ्या दोनों ही वृक्षों की जड़ वही भगवान् हैं, लेकिन मिथ्या वृक्ष असली वृक्ष का विकृत प्रतिबिम्ब मात्र है। यहाँ पर ब्रह्मा अपनी ओर से तथा शिवजी की ओर से असली वृक्ष रूप भगवान् को नमस्कार कर रहे हैं।

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः

कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।

यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां

सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

लोकः—सामान्य लोग; विकर्म—अविचारित कर्म में; निरतः—लगे हुए; कुशले—लाभप्रद कार्य में; प्रमत्तः—लापरवाह; कर्मणि—कर्म में; अयम्—यह; त्वत्—आपके द्वारा; उदिते—घोषित; भवत्—आपकी; अर्चने—पूजा में; स्वे—अपने; यः—जो; तावत्—जब तक; अस्य—सामान्य लोगों का; बलवान्—अत्यन्त शक्तिमान; इह—यह; जीवित-आशाम्—जीवन-संघर्ष; सद्यः—प्रत्यक्षतः; छिनत्ति—काट कर खण्ड खण्ड कर दिया जाता है; अनिमिषाय—नित्य काल द्वारा; नमः—नमस्कार; अस्तु—हो; तस्मै—उसके लिए।

सामान्य लोग मूर्खतापूर्ण कार्यों में लगे रहते हैं। वे अपने मार्गदर्शन हेतु आपके द्वारा प्रत्यक्ष घोषित लाभप्रद कार्यों में अपने को नहीं लगाते। जब तक उनकी मूर्खतापूर्ण कार्यों की प्रवृत्ति बलवती बनी रहती है तब तक जीवन-संघर्ष में उनकी सारी योजनाएँ छिन्न-भिन्न होती रहेंगी। अतएव मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ जो नित्यकाल स्वरूप हैं।

तात्पर्य : सामान्य लोग निरर्थक कार्य में लगे हुए हैं। वे असली लाभप्रद कार्य के प्रति, जो भगवान् की भक्ति है और पारिभाषिक रूप में *अर्चना* विधान कहलाते हैं, बिल्कुल लापरवाह बने रहते हैं। अर्चना विधानों का उपदेश स्वयं भगवान् ने *नारद पांचरात्र* में किया है और उनका बुद्धिमान लोगों

द्वारा कड़ाई से पालन किया जाता है, जो यह भलीभाँति जानते हैं कि जीवन का चरम उद्देश्य उन भगवान् विष्णु तक पहुँचना है, जो विराट जगत रूपी वृक्ष की जड़ हैं। *भगवत* तथा *भगवद्गीता* में भी ऐसे विधानों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि उनका निजी हित विष्णु-अनुभूति में है। *भगवत* (७.५.३०-३२) में कहा गया है—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम् ।

अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम् ॥

न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं दुराशया ये बहिरर्थमानिनः ।

अन्धा यथान्धैरुपनीयमानास्तेऽपीशतन्त्यामुरुदाम्नि बद्धाः ॥

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किचनानां न वृणीत यावत् ॥

“जो लोग मिथ्या भौतिक सुख में पूरी तरह सड़ने के लिए कटिबद्ध हैं, वे न तो शिक्षकों के उपदेशों द्वारा, न आत्म-साक्षात्कार द्वारा, न ही शिष्टतापूर्ण विचार-विमर्श के द्वारा कृष्णोन्मुख हो सकते हैं। वे बिना लगाम की इन्द्रियों द्वारा अज्ञान के सबसे अंधकारमय क्षेत्र में घसीट कर ले जाए जाते हैं और इस तरह वे चबाये हुए को चबाने में अन्धाधुन्ध लगे रहते हैं।”

“वे अपने मूर्खतापूर्ण कर्मों के कारण यह नहीं जान पाते हैं कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य विराट जगत के स्वामी विष्णु को प्राप्त करना है। इस तरह उनका वह जीवन-संघर्ष भौतिक सभ्यता की गलत दिशा में होता है, जो बहिरंगा शक्ति के अधीन है। उन्हें अपने ही जैसे मूर्ख व्यक्तियों के द्वारा मार्ग दिखलाया जाता है जिस तरह यदि एक अन्धा व्यक्ति दूसरे को रास्ता दिखलाता है, तो दोनों खंदक में जा गिरते हैं।”

“ऐसे मूर्ख लोग उस परम शक्तिमान के कार्यकलापों की ओर जो उनके मूर्खतापूर्ण कर्मों को वस्तुतः निष्प्रभावित करने वाला है, आकृष्ट नहीं हो सकते जब तक कि उनमें यह बुद्धि नहीं आ जाती कि उनका मार्गदर्शन उन महात्माओं द्वारा हो जो भौतिक आसक्ति से पूर्णतया मुक्त हैं।”

भगवद्गीता में भगवान् हर एक से अन्य सारे वृत्तिपरक कार्यों को त्यागने और *अर्चना* कार्यों में या भगवान् को प्रसन्न करने में पूरी तरह लगने के लिए आदेश देते हैं। किन्तु ऐसे अर्चना-कार्य की ओर

प्रायः कोई भी आकृष्ट नहीं होता। हर व्यक्ति न्यूनाधिक रूप में ऐसे कार्यों के प्रति आकृष्ट होता है, जो परमेश्वर के प्रति विद्रोहात्मक कार्य हैं। ज्ञान तथा योग की पद्धतियाँ भी अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् के प्रति विद्रोहात्मक कार्य हैं। भगवान् की अर्चना के अतिरिक्त अन्य कोई कर्म शुभ नहीं है। कभी-कभी ज्ञान तथा योग को अर्चना के क्षेत्र में माना जाता है, जब चरम लक्ष्य एकमात्र विष्णु होता है, अन्यथा नहीं। निष्कर्ष यह है कि एकमात्र भगवद्भक्त ही मोक्ष के योग्य प्रामाणिक मानव है। अन्य लोग व्यर्थ ही, बिना किसी लाभ के, जीवन-संघर्ष में रत हैं।

यस्माद्विभेम्यहमपि द्विपरार्थधिष्य-

मध्यासितः सकललोकनमस्कृतं यत् ।

तेपे तपो बहुसवोऽवरुरुत्समान-

स्तस्मै नमो भगवतेऽधिमखाय तुभ्यम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यस्मात्—जिससे; विभेमि—डरता हूँ; अहम्—मैं; अपि—भी; द्वि-पर-अर्थ—४,३०,००,००,०००×२×३०×१२×१०० सौर वर्षों की सीमा तक; धिष्यम्—स्थान में; अध्यासितः—स्थित; सकल-लोक—अन्य सारे लोकों द्वारा; नमस्कृतम्—आदरित; यत्—जिसने; तेपे—किया; तपः—तपस्या; बहु-सवः—अनेकानेक वर्ष; अवरुरुत्समानः—आपको प्राप्त करने की इच्छा से; तस्मै—उन को; नमः—मैं नमस्कार करता हूँ; भगवते—भगवान् को; अधिमखाय—समस्त यज्ञों के भोक्ता; तुभ्यम्—आपको।
हे प्रभु, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ जो अथक काल तथा समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं।

यद्यपि मैं ऐसे स्थान में स्थित हूँ जो दो परार्थों की अवधि तक विद्यमान रहेगा, और यद्यपि मैं ब्रह्माण्ड के अन्य सभी लोकों का अगुआ हूँ, और यद्यपि मैंने आत्म-साक्षात्कार हेतु अनेकानेक वर्षों तक तपस्या की है, फिर भी मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्माजी ब्रह्माण्ड के महानतम पुरुष हैं, क्योंकि उनकी आयु सबसे लम्बी है। वे अपने तप, प्रभाव, प्रतिष्ठा इत्यादि के कारण सर्वाधिक सम्माननीय पुरुष हैं फिर भी वे भगवान् को सादर नमस्कार करते हैं। अतः अन्य सारे लोग जो ब्रह्मा के पद से बहुत ही नीचे हैं उनके लिए यह अनिवार्य है कि वे उन्हीं की तरह कर्तव्य समझकर नमस्कार करें।

तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनि-

ष्वात्मेच्छयात्मकृतसेतुपरीप्सया यः ।

रेमे निरस्तविषयोऽप्यवरुद्धदेह-

स्तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तिर्यक्—मनुष्येतर पशु; मनुष्य—मानव आदि.; विबुध—आदिषु—देवताओं इत्यादि; जीव-योनिषु—विभिन्न जीव योनियों में; आत्म—आत्मा; इच्छया—इच्छा द्वारा; आत्म-कृत—स्वतःउत्पन्न; सेतु—दायित्व; परीप्सया—बनाये रखने की इच्छा से; यः—जो; रेमे—दिव्य लीला सम्पन्न करते हुए; निरस्त—अधिक प्रभावित हुए बिना; विषयः—भौतिक कल्मष; अपि—निश्चय ही; अवरुद्ध—प्रकट; देहः—दिव्य शरीर; तस्मै—उस; नमः—मेरा नमस्कार; भगवते—भगवान् को; पुरुषोत्तमाय—आदि भगवान्।

हे प्रभु, आप अपनी दिव्य लीलाएँ सम्पन्न करने हेतु स्वेच्छा से विविध जीवयोनियों में, मनुष्येतर पशुओं में तथा देवताओं में प्रकट होते हैं। आप भौतिक कल्मष से तनिक भी प्रभावित नहीं होते। आप धर्म के अपने सिद्धान्तों के दायित्वों को पूरा करने के लिए ही आते हैं, अतः, हे परमेश्वर ऐसे विभिन्न रूपों को प्रकट करने के लिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : विभिन्न जीवयोनियों में भगवान् के अवतार सर्वथा दिव्य हैं। वे कृष्ण, राम इत्यादि अपने अवतारों में मनुष्य रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु वे मनुष्य नहीं हैं। जो व्यक्ति उन्हें सामान्य मनुष्य समझने की भूल करता है, वह निश्चय ही अल्पज्ञ है जैसाकि भगवद्गीता (९.११) में पुष्टि की गई है—*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*। यही सिद्धान्त तब भी लागू होता है जब वे शूकर या मत्स्य के रूप में अवतरित होते हैं। ये भगवान् के दिव्य रूप हैं, जो उनकी निजी इच्छा तथा लीलाओं की कुछ आवश्यकताओं के अन्तर्गत ही प्रकट होते हैं। उन्हें ऐसे दिव्य रूपों का प्राकट्य अपने भक्तों को प्रोत्साहित करने के लिए ही करना पड़ता है। जब जब उन्हें अपने भक्तों का उद्धार करने तथा अपने सिद्धान्तों को बनाये रखने की आवश्यकता होती है तब तब उनके विविध अवतार प्रकट होते हैं।

योऽविद्ययानुपहतोऽपि दशार्धवृत्त्या

निद्रामुवाह जठरीकृतलोकयात्रः ।

अन्तर्जलेऽहिकशिपुस्पर्शानुकूलां

भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यः—जो, जिसने; अविद्यया—अविद्या से प्रभावित; अनुपहतः—प्रभावित हुए बिना; अपि—भी; दश-अर्ध—पाँच; वृत्त्या—अन्योन्य क्रिया; निद्राम्—नींद; उवाह—स्वीकार किया; जठरी—उदर के भीतर; कृत—ऐसा करते हुए; लोक-यात्रः—विभिन्न जीवों का पालन पोषण; अन्तः-जले—प्रलयरूपी जल के भीतर; अहि-कशिपु—सर्प-शय्या पर; स्पर्श-अनुकूलाम्—स्पर्श के लिए सुखी; भीम-ऊर्मि—प्रचण्ड लहरों की; मालिनि—शृंखला; जनस्य—बुद्धिमान पुरुष का; सुखम्—सुख; विवृण्वन्—प्रदर्शित करते हुए।

हे प्रभु, आप उस प्रलयकालीन जल में शयन करने का आनन्द लेते हैं जहाँ प्रचण्ड लहरें उठती रहती हैं और बुद्धिमान लोगों को अपनी नींद का सुख दिखाने के लिए आप सर्पों की

शय्या का आनन्द भोगते हैं। उस काल में ब्रह्माण्ड के सारे लोक आपके उदर में स्थित रहते हैं।

तात्पर्य : ऐसे लोग जो अपनी शक्ति की सीमा से परे नहीं सोच पाते, कुएं के उन मेंढकों के समान हैं, जो विशाल प्रशान्त महासागर की लम्बाई-चौड़ाई की कल्पना नहीं कर सकते। ऐसे लोग जब यह सुनते हैं कि भगवान् तो ब्रह्माण्ड के विशाल सागर में अपनी शय्या पर शयन करते हैं, तो वे इसे गप्प मान बैठते हैं। उन्हें आश्चर्य होता है कि कोई किस तरह पानी में लेट कर सुखपूर्वक सो सकता है। किन्तु थोड़ी सी बुद्धि लगाने पर इस मूर्खतापूर्ण आश्चर्य को कम किया जा सकता है। समुद्र की तली में ऐसे विविध जीव हैं, जो भोजन करने, सोने, रक्षा करने तथा संभोग करने जैसे भौतिक शारीरिक कार्यों का भी आनन्द लेते हैं। यदि ऐसे नगण्य जीव जल के भीतर जीवन का आनन्द ले सकते हैं, तो सर्वशक्तिमान परमेश्वर सर्प के शीतल शरीर पर क्यों नहीं सो सकते और सागर की प्रचण्ड लहरों की उथल-पुथल का आनन्द क्यों नहीं ले सकते? भगवान् की विशेषता यह है कि उनके सारे कार्य दिव्य होते हैं और वे काल तथा दिक् की सीमाओं से बाधित हुए बिना कुछ भी तथा सब कुछ कर सकते हैं। वे भौतिक मान्यताओं के प्रति उदासीन रहकर अपना दिव्य आनन्द भोग सकते हैं।

यन्नाभिपद्मभवनादहमासमीड्य

लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण ।

तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योग-

निद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसकी; नाभि—नाभि; पद्म—कमल रूपी; भवनात्—घर से; अहम्—मैं; आसम्—प्रकट हुआ; ईड्य—हे पूजनीय; लोक-त्रय—तीनों लोकों के; उपकरणः—सृजन में सहायक बनकर; यत्—जिसकी; अनुग्रहेण—कृपा से; तस्मै—उसको; नमः—मेरा नमस्कार; ते—तुमको; उदर-स्थ—उदर के भीतर स्थित; भवाय—ब्रह्माण्ड से युक्त; योग-निद्रा-अवसान—उस दिव्य निद्रा के अन्त होने पर; विकसत्—खिले हुए; नलिन-ईक्षणाय—जिसकी खुली आँखें कमलों के समान हैं उसे।

हे मेरी पूजा के लक्ष्य, मैं आपकी कृपा से ब्रह्माण्ड की रचना करने हेतु आपके कमल-नाभि रूपी घर से उत्पन्न हुआ हूँ। जब आप नींद का आनन्द ले रहे थे, तब ब्रह्माण्ड के ये सारे लोक आपके दिव्य उदर के भीतर स्थित थे। अब आपकी नींद टूटी है, तो आपके नेत्र प्रातःकाल में खिलते हुए कमलों की तरह खुले हुए हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माजी हमें प्रातः (४ बजे) से सायंकाल (१० बजे) तक के अर्चाविधान के शुभारम्भ की शिक्षा दे रहे हैं। भक्त को तड़के अपने बिस्तर से उठकर भगवान् की प्रार्थना करनी होती है और

प्रातःकालीन मंगल-आरति करने के अन्य विधि-विधान पूरे करने होते हैं। अभक्त मूर्ख-जन अर्चना की महत्ता न समझ सकने के कारण इन विधि-विधानों की आलोचना करते हैं, किन्तु उन्हें यह नहीं दिखता कि भगवान् भी स्वेच्छा से सोते हैं। ब्रह्म की निर्विशेष धारणा भक्ति-मार्ग के लिए इतनी बाधक है कि ढीढ़ अभक्तों के संग रह पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि वे सदैव भौतिक अवधारणाओं के अनुसार ही सोचते हैं।

निर्विशेषवादी सदैव उल्टा सोचते हैं। वे सोचते हैं कि चूँकि पदार्थ में रूप है इसलिए आत्मा रूपविहीन होगा। चूँकि पदार्थ में निद्रा है, अतः आत्मा में निद्रा नहीं हो सकती और चूँकि अर्चना में अर्चाविग्रह की निद्रा को स्वीकार किया जाता है, अतः अर्चना माया है। ये समस्त विचार मूलतः भौतिक हैं। तो भी सकारात्मक या नकारात्मक रूप से सोचना भौतिकता है। वेदों के श्रेष्ठ स्रोत से स्वीकार किया गया ज्ञान मानक होता है। *श्रीमद्भागवत* के इन श्लोकों में अर्चना की संस्तुति की गई है। सृजन का कार्य अपने हाथों में लेने से पूर्व ब्रह्मा ने देखा कि भगवान् प्रलयकालीन जल की लहरों में सर्प की शय्या में सो रहे हैं। इसलिए शयन करना भगवान् की अन्तरंगा शक्ति में निहित रहता है और भगवान् के शुद्ध भक्तगण, यथा ब्रह्मा तथा उनकी परम्परा के भक्त, इससे इनकार नहीं करते। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् जल की प्रचण्ड लहरों के बीच अतीव सुखपूर्वक सो रहे थे जिसके द्वारा वे यह दिखाना चाह रहे थे कि वे अपनी दिव्य इच्छा से कुछ भी कर सकते हैं और किसी भी परिस्थिति में उन्हें विघ्न नहीं पहुँचता है। मायावादी इस भौतिक अनुभव से परे सोच ही नहीं सकता, अतएव वह भगवान् की पानी में सोने की क्षमता को नकारता है। उसका दोष यही है कि वह भगवान् की तुलना अपने से करता है और वह तुलना भी एक भौतिक सोच है। समस्त मायावादी दर्शन मूलतः भौतिक है, क्योंकि यह *नेति नेति* (यह नहीं, वह नहीं) पर आधारित है। ऐसे विचार से किसी को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को यथारूप में जानने का अवसर प्राप्त नहीं हो सकता।

सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा
सत्त्वेन यन्मृडयते भगवान्भगेन ।
तेनैव मे दृशामनुस्पृशताद्यथाहं
स्रक्ष्यामि पूर्ववदिदं प्रणतप्रियोऽसौ ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अयम्—भगवान्; समस्त-जगताम्—समस्त ब्रह्माण्डों में से; सुहृत् एकः—एकमात्र मित्र तथा दार्शनिक; आत्मा—परमात्मा; सत्त्वेन—सतोगुण के द्वारा; यत्—जो; मृडयते—सुख उत्पन्न करता है; भगवान्—भगवान्; भगेन—छः ऐश्वर्यों द्वारा; तेन—उसके द्वारा; एव—निश्चय ही; मे—मुझको; दृशम्—आत्मपरीक्षण की शक्ति, अन्तर्दृष्टि; अनुस्मृशतात्—वह दे; यथा—जिस तरह; अहम्—मैं; स्रक्ष्यामि—सृजन कर सकूँगा; पूर्व-वत्—पहले की तरह; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; प्रणत—शरणागत; प्रियः—प्रिय; असौ—वह (भगवान्)।

परमेश्वर मुझ पर कृपालु हों। वे इस जगत में सारे जीवों के एकमात्र मित्र तथा आत्मा हैं और वे अपने छः ऐश्वर्यों द्वारा जीवों के चरम सुख हेतु इन सबों का पालन-पोषण करते हैं। वे मुझ पर कृपालु हों, जिससे मैं पहले की तरह सृजन करने की आत्मपरीक्षण शक्ति से युक्त हो सकूँ, क्योंकि मैं भी उन शरणागत जीवों में से हूँ जो भगवान् को प्रिय हैं।

तात्पर्य : भगवान् पुरुषोत्तम अर्थात् श्रीकृष्ण दिव्य तथा भौतिक दोनों ही जगत्तों में सबों के पालनकर्ता हैं। वे सबों के जीवन तथा मित्र हैं, क्योंकि जीवों तथा भगवान् के बीच शाश्वत सहज स्नेह तथा प्रेम होता है। वे सबों के एकमात्र मित्र तथा हितैषी हैं और वे अद्वय हैं। भगवान् अपने छः दिव्य ऐश्वर्यों द्वारा सर्वत्र समस्त जीवों का पालन करते हैं जिसके कारण वे भगवान् अथवा पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर कहलाते हैं। ब्रह्माजी ने भगवान् की कृपा पाने के लिए प्रार्थना की जिससे वे पहले की तरह ब्रह्माण्ड का सृजन करने में समर्थ हो सकें। केवल भगवान् की अहैतुकी कृपा से वे मरीचि तथा नारद जैसी भौतिक तथा आध्यात्मिक विभूतियों का सृजन कर सके। ब्रह्मा ने भगवान् से प्रार्थना की, क्योंकि शरणागत के प्रति वे अतीव प्रिय रहते हैं। शरणागत आत्मा भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानता, अतएव भगवान् उसके प्रति अतीव वत्सल रहते हैं।

एष प्रपन्नवरदो रमयात्मशक्त्या

यद्यत्करिष्यति गृहीतगुणावतारः ।

तस्मिन्स्वविक्रममिदं सृजतोऽपि चेतो

युञ्जीत कर्मशमलं च यथा विजह्याम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; प्रपन्न—शरणागत; वर-दः—वर देने वाला; रमया—लक्ष्मीदेवी के साथ रमण करते हुए; आत्म-शक्त्या—अपनी अन्तरंगा शक्ति सहित; यत् यत्—जो जो; करिष्यति—वह कर सके; गृहीत—स्वीकार करते हुए; गुण-अवतारः—सतोगुण का अवतार; तस्मिन्—उसको; स्व-विक्रमम्—सर्वशक्तिमत्ता से; इदम्—इस विराट जगत को; सृजतः—रचते हुए; अपि—भी; चेतः—हृदय; युञ्जीत—लगा रहे; कर्म—कार्य; शमलम्—भौतिक प्रभाव, व्याधि; च—भी; यथा—यथासम्भव; विजह्याम्—मैं त्याग सकता हूँ।

भगवान् सदा ही शरणागतों को वर देने वाले हैं। उनके सारे कार्य उनकी अन्तरंगा शक्ति रमा

या लक्ष्मी के माध्यम से सम्पन्न होते हैं। मेरी उनसे यही विनती है कि भौतिक जगत के सृजन में वे मुझे अपनी सेवा में लगा लें और मेरी यही प्रार्थना है कि मैं अपने कर्मों द्वारा भौतिक रूप से प्रभावित न होऊँ, क्योंकि इस तरह मैं स्रष्टा होने की मिथ्या-प्रतिष्ठा त्यागने में सक्षम हो सकूँगा।

तात्पर्य : भौतिक सृजन, पालन तथा संहार के निमित्त प्रकृति के तीन गुणावतार—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर—हैं। किन्तु विष्णु रूप में, अपनी अन्तरंगा शक्ति में भगवान् का अवतार सम्पूर्ण कार्यों के लिए परम शक्ति है। ब्रह्मा ने, जो सृजन के गुणों में सहायक मात्र हैं भगवान् के उपकरण रूप में अपने वास्तविक पद पर बने रहने की इच्छा व्यक्त की। न कि अपने को स्रष्टा होने की झूठी प्रतिष्ठा से गर्वित होने की। भगवान् का प्रिय बनने और उनका वर पाने की, यही विधि है। मूर्ख लोग अपने द्वारा निर्मित सम्पूर्ण सृजनों का श्रेय लेना चाहते हैं, किन्तु बुद्धिमान लोग यह भली-भाँति जानते हैं कि भगवान् की इच्छा के बिना एक पत्ती भी नहीं हिल सकती। इस तरह अद्भुत सृजनों का श्रेय भगवान् को मिलना चाहिए। एकमात्र आध्यात्मिक चेतना द्वारा ही मनुष्य अपने को भौतिक संसर्ग के कल्मष से मुक्त कर सकता है और भगवान् द्वारा प्रदत्त वर प्राप्त कर सकता है।

नाभिहृदादिह सतोऽम्भसि यस्य पुंसो
विज्ञानशक्तिरहमासमनन्तशक्तेः ।
रूपं विचित्रमिदमस्य विवृण्वतो मे
मा रीरिषीष्ट निगमस्य गिरां विसर्गः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

नाभि-हृदात्—नाभिरूपी झील से; इह—इस कल्प में; सतः—लेटे हुए; अम्भसि—जल में; यस्य—जिसका; पुंसः—भगवान् का; विज्ञान—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की; शक्तिः—शक्ति; अहम्—मैं; आसम्—उत्पन्न हुआ था; अनन्त—असीम; शक्तेः—शक्तिशाली का; रूपम्—स्वरूप; विचित्रम्—विचित्र; इदम्—यह; अस्य—उसका; विवृण्वतः—प्रकट करते हुए; मे—मुझको; मा—नहीं; रीरिषीष्ट—लुप्त; निगमस्य—वेदों की; गिराम्—ध्वनियों का; विसर्गः—कम्पन।

भगवान् की शक्तियाँ असंख्य हैं। जब वे प्रलय-जल में लेटे रहते हैं, तो उस नाभिरूपी झील से, जिसमें कमल खिलता है, मैं समग्र विश्वशक्ति के रूप में उत्पन्न होता हूँ। इस समय मैं विराट जगत के रूप में उनकी विविध शक्तियों को उद्घाटित करने में लगा हुआ हूँ। इसलिए मैं प्रार्थना करता हूँ कि अपने भौतिक कार्यों को करते समय मैं वैदिक स्तुतियों की ध्वनि से कहीं विचलित न हो जाऊँ।

तात्पर्य : इस जगत का प्रत्येक व्यक्ति जो कि भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा हुआ है

अनेकानेक भौतिक गतिविधियों की ओर प्रवृत्त होता है और यदि वह अपने को भौतिक संसर्ग के प्रहार से बचा पाने में समर्थ नहीं होता तो वह आध्यात्मिक शक्ति से विपथ हो सकता है। भौतिक सृष्टि में ब्रह्मा को सभी प्रकार के जीवों का सृजन करना था जिस के साथ उन सबके शरीर उनकी भौतिक स्थितियों के अनुकूल हों। ब्रह्मा चाहते हैं कि भगवान् उनकी रक्षा करें, क्योंकि उनका सम्पर्क अनेकानेक दूषित जीवों से होना था। एक सामान्य ब्राह्मण अनेक पतित बद्धात्माओं की संगति के कारण अपने ब्रह्मतेज से नीचे गिर सकता है। सर्वोच्च ब्राह्मण के रूप में ब्रह्मा ऐसे पतन से भयभीत हैं, इसीलिए सुरक्षा के लिए वे भगवान् से प्रार्थना करते हैं। जीवन की आध्यात्मिक प्रगति में यह हर एक के लिए चेतावनी है। जब तक कोई भगवान् द्वारा पर्याप्त रूप से सुरक्षित न हो, वह अपने आध्यात्मिक पद से नीचे गिर सकता है, अतएव अपनी सुरक्षा के लिए तथा अपना कार्य करते रहने के लिए आशीर्वाद हेतु मनुष्य को निरन्तर भगवान् से प्रार्थना करनी होती है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी अपना धर्मप्रचार कार्य अपने भक्तों को सौंप दिया था और उन्हें भौतिक संसर्ग के प्रहार के प्रति सुरक्षा का आश्वासन दे रखा था। वेदों में आध्यात्मिक जीवन के मार्ग को तेज उस्तरे की धार के समान बताया गया है। थोड़ी सी भी असावधानी से तुरन्त ही ऊहापोह तथा रक्तपात हो सकता है, किन्तु जो व्यक्ति पूर्णतया शरणागत है और अपने को सौंपे हुए कार्य को सम्पन्न करने में सदैव भगवान् से रक्षा की याचना करता रहता है उसे भौतिक कल्मष में गिरने का कोई भय नहीं रहता।

सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान्विवृद्ध-

प्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन् ।

उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं

माध्व्या गिरापनयतात्पुरुषः पुराणः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान्); असौ—उस; अदभ्र—असीम; करुणः—कृपालु; भगवान्—भगवान्; विवृद्ध—अत्यधिक; प्रेम—प्रेम; स्मितेन—हँसी द्वारा; नयन-अम्बुरुहम्—कमलनेत्रों को; विजृम्भन्—खोलते हुए; उत्थाय—उत्थान हेतु; विश्व-विजयाय—विराट सृष्टि की महिमा के गायन हेतु; च—भी; नः—हमारी; विषादम्—निराशा; माध्व्या—मधुर; गिरा—शब्द; अपनयतात्—वे दूर करें; पुरुषः—परम; पुराणः—सबसे प्राचीन।

भगवान् जो कि परम हैं और सबसे प्राचीन हैं, अपार कृपालु हैं। मैं चाहता हूँ कि वे अपने कमलनेत्रों को खोल कर मुसकाते हुए मुझे वर दें। वे सम्पूर्ण विराट सृष्टि का उत्थान कर सकते हैं और अपने कृपापूर्ण आदेशों के द्वारा हमारा विषाद दूर कर सकते हैं।

तात्पर्य : भगवान् इस भौतिक जगत के पतितात्माओं पर अत्यधिक कृपालु हैं। सम्पूर्ण विराट जगत सबों के लिए अपनी भगवद्भक्ति बढ़ाने के लिए सुअवसर है और हर व्यक्ति इसी प्रयोजन के लिए है। भगवान् अपना विस्तार अनेक पुरुषों में करते हैं, जो या तो स्वांश होते हैं या विभिन्नांश। व्यष्टि आत्माओं वाले पुरुष उनके विभिन्नांश हैं जबकि स्वांश साक्षात् भगवान् होते हैं। स्वांश सेव्य होते हैं और विभिन्नांश आनन्द तथा ज्ञान के सर्वोच्च स्वरूप के साथ दिव्य आनन्द के आदान-प्रदान हेतु सेवक होते हैं। मुक्तात्माएँ बिना भौतिक कल्पित विचारों के सेव्य तथा सेवक के आनन्दमय आदान-प्रदान में सम्मिलित हो सकती हैं। सेव्य तथा सेवक के बीच ऐसे दिव्य आदान-प्रदान का विशिष्ट उदाहरण गोपियों के साथ सम्पन्न उनकी *रासलीला* है। गोपियाँ अन्तरंगा शक्ति की सेवक अंश हैं, अतएव रास लीला नृत्य में भगवान् के सम्मिलित होने को कभी भी पुरुष तथा स्त्री के संसारी सम्बन्ध जैसा नहीं मानना चाहिए। प्रत्युत भगवान् तथा जीवों के मध्य विचारों के आदान-प्रदान की यह सर्वोच्च सिद्धावस्था है। भगवान् पतितात्माओं को जीवन की इस सर्वोच्च सिद्धि के लिए अवसर प्रदान करते हैं। ब्रह्माजी को सम्पूर्ण विराट जगत की व्यवस्था का भार सौंपा गया है, अतएव वे भगवान् से आशीर्वाद माँगते हैं जिससे वे अपने इस कार्य को सम्पन्न कर सकें।

मैत्रेय उवाच

स्वसम्भवं निशाम्यैवं तपोविद्यासमाधिभिः ।

यावन्मनोवचः स्तुत्वा विरराम स खिन्नवत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महर्षि मैत्रेय ने कहा; स्व-सम्भवम्—अपने प्राकट्य का स्रोत; निशाम्य—देखकर; एवम्—इस प्रकार; तपः—तपस्या; विद्या—ज्ञान; समाधिभिः—तथा मन की एकाग्रता द्वारा; यावत्—यथासम्भव; मनः—मन; वचः—शब्द; स्तुत्वा—स्तुति करके; विरराम—मौन हो गया; सः—वह (ब्रह्मा); खिन्न-वत्—मानो थक गया हो।

मैत्रेय मुनि ने कहा : हे विदुर, अपने प्राकट्य के स्रोत अर्थात् भगवान् को देखकर ब्रह्मा ने अपने मन तथा वाणी की क्षमता के अनुसार उनकी कृपा हेतु यथासम्भव स्तुति की। इस प्रकार स्तुति करने के बाद वे मौन हो गये मानो अपनी तपस्या, ज्ञान तथा मानसिक एकाग्रता के कारण वे थक गये हों।

तात्पर्य : ब्रह्मा में ज्ञान का प्रकाश इसलिए हुआ, क्योंकि भगवान् उनके हृदय में विराजमान थे। उत्पन्न होने के बाद ब्रह्माजी अपने प्राकट्य के स्रोत को सुनिश्चित नहीं कर पाये, किन्तु तपस्या तथा

मानसिक एकाग्रता के बाद वे अपने जन्म के स्रोत को देख सके और इस तरह अपने हृदय के माध्यम से उन्हें प्रकाश प्राप्त हुआ। बाह्य गुरु तथा अन्तरिक गुरु दोनों ही भगवान् का प्रतिनिधित्व करते हैं। जब तक ऐसे प्रामाणिक प्रतिनिधित्व से किसी का सम्पर्क नहीं हो जाता तब तक वह अपने को गुरु नहीं कह सकता। ब्रह्माजी को बाह्य गुरु से सहायता लेने का अवसर ही नहीं था, क्योंकि उस समय ब्रह्माण्ड में वे ही एकमात्र प्राणी थे। अतएव ब्रह्मा की स्तुतियों से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें प्रत्येक वस्तु के विषय में भीतर से प्रबुद्ध किया।

अथाभिप्रेतमन्वीक्ष्य ब्रह्माणो मधुसूदनः ।

विषण्णचेतसं तेन कल्पव्यतिकराम्भसा ॥ २७ ॥

लोकसंस्थानविज्ञान आत्मनः परिखिद्यतः ।

तमाहागाधया वाचा कश्मलं शमयन्निव ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अभिप्रेतम्—मंशा, मनोभाव; अन्वीक्ष्य—देखकर; ब्रह्माणः—ब्रह्मा का; मधुसूदनः—मधु नामक असुर के वधकर्ता; विषण्ण—खिन्न; चेतसम्—हृदय के; तेन—उसके द्वारा; कल्प—युग; व्यतिकर—अम्भसा—प्रलयकारी जल; लोक-संस्थान—लोक की स्थिति; विज्ञाने—विज्ञान में; आत्मनः—स्वयं को; परिखिद्यतः—अत्यधिक चिन्तित; तम्—उससे; आह—कहा; अगाधया—अत्यन्त विचारपूर्ण; वाचा—शब्दों से; कश्मलम्—अशुद्धियाँ; शमयन्—हटाते हुए; इव—मानो।

भगवान् ने देखा कि ब्रह्माजी विभिन्न लोकों की योजना बनाने तथा उनके निर्माण को लेकर अतीव चिन्तित हैं और प्रलयकारी जल को देखकर खिन्न हैं। वे ब्रह्मा के मनोभाव को समझ गये, अतः उन्होंने उत्पन्न मोह को दूर करते हुए गम्भीर एवं विचारपूर्ण शब्द कहे।

तात्पर्य : प्रलयकारी जल इतना भयावना था कि इसे देखकर ब्रह्मा तक विचलित हो गये थे और अत्यन्त चिन्तित थे कि विभिन्न जीवों को यथा मनुष्यों, मनुष्येतर तथा अतिमानवीय प्राणियों को स्थान देने के लिए बाह्य आकाश में विभिन्न लोकों को किस तरह स्थापित किया जाय। ब्रह्माण्ड के सारे लोक प्रकृति के गुणों के प्रभाव के अधीन विभिन्न कोटि के जीवों के अनुसार स्थित हैं। प्रकृति के गुण तीन हैं और परस्पर मिलाने पर ये नौ हो जाते हैं और जब इन नौ को मिलाया जाता है, तो वे इक्यासी बन जाते हैं। इसके बाद ये इक्यासी भी परस्पर मिलकर इतनी संख्या में हो जाते हैं कि भ्रम बढ़ता ही जाता है। ब्रह्माजी को निश्चित संख्या में बद्धजीवों को विभिन्न स्थानों तथा पदों पर स्थापित करना था। यह कार्य ब्रह्मा को ही करना था और ब्रह्माण्ड में अन्य कोई ऐसा नहीं जो यह समझ भी पाता हो कि यह

कार्य कितना कठिन था। किन्तु भगवान् की दया से ब्रह्मा इस गुरुतर कार्य को इतनी दक्षता से सम्पन्न कर सके कि हर व्यक्ति *विधाता* की करामात देखकर चकित है।

श्रीभगवानुवाच

मा वेदगर्भं गास्तन्त्रीं सर्गं उद्यममावह ।

तन्मयापादितं ह्यग्रे यन्मां प्रार्थयते भवान् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; मा—मत; वेद-गर्भ—वैदिक ज्ञान की गहराई तक पहुँचने वाले; गाः तन्त्रीम्—निराश हो; सर्ग—सृजन के लिए; उद्यमम्—अध्यवसाय; आवह—जरा हाथ तो लगाओ; तत्—वह (जो तुम चाहते हो); मया—मेरे द्वारा; आपादितम्—सम्पन्न हुआ; हि—निश्चय ही; अग्रे—पहले ही; यत्—जो; माम्—मुझसे; प्रार्थयते—माँग रहे हो; भवान्—तुम।

तब पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने कहा, “हे ब्रह्मा, हे वेदगर्भ, तुम सृष्टि करने के लिए न तो निराश होओ, न ही चिन्तित। तुम जो मुझसे माँग रहे हो वह तुम्हें पहले ही दिया जा चुका है।

तात्पर्य : भगवान् या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि द्वारा अधिकारप्रदत्त कोई पुरुष पहले ही आशीर्वाद पा चुकता है और उसी तरह उसे सौंपा हुआ कार्य भी। निस्सन्देह, उस व्यक्ति को जिसे ऐसा उत्तरदायित्व सौंपा गया हो सदैव अपनी अक्षमता से अवगत होना चाहिए और अपने कर्तव्य के सफलतापूर्ण सम्पादन के लिए भगवान् की कृपा के लिए अपेक्षा करनी चाहिए। उसे इसलिए गर्वित नहीं होना चाहिए कि उसे कोई प्रशासनिक कार्य सौंपा गया है। वह भाग्यशाली है, जिसे ऐसा कार्य सौंपा गया है और यदि वह इस भाव में सदैव स्थिर रहता है कि मैं परमेश्वर की इच्छा के अधीन हूँ तो अपने कार्य के सम्पादन में उसका सफल होना सुनिश्चित है। अर्जुन को कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में युद्ध करने का कार्य सौंपा गया था और उसे यह कार्य सौंपने के पूर्व ही भगवान् उसकी विजय की व्यवस्था कर चुके थे। किन्तु अर्जुन भगवान् की अधीनता के प्रति सदैव सचेत रहा और इस उत्तरदायित्व में उसने उन्हें अपना परम मार्गदर्शक स्वीकार किया। जो भी व्यक्ति किसी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने के लिए गर्वित रहता है, किन्तु उसका श्रेय भगवान् को नहीं देता वह निश्चय ही मिथ्याभिमानी है और वह कोई भी कार्य ढंग से सम्पन्न नहीं कर सकता। ब्रह्मा तथा उनके पदचिह्नों का अनुसरण करने वाली शिष्य-परम्परा के व्यक्ति सदैव भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति सम्पादित करने में सफल होते हैं।

भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयाम् ।

ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन्लोकान्द्रक्ष्यस्यपावृतान् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

भूयः—पुनः; त्वम्—तुम; तपः—तपस्या; आतिष्ठ—स्थित होओ; विद्याम्—ज्ञान में; च—भी; एव—निश्चय ही; मत्—मेरा; आश्रयाम्—संरक्षण में; ताभ्याम्—उन योग्यताओं द्वारा; अन्तः—भीतर; हृदि—हृदय में; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; लोकान्—सारे लोक; द्रक्ष्यसि—देखोगे; अपावृतान्—प्रकट हुआ।

हे ब्रह्मा, तुम अपने को तपस्या तथा ध्यान में स्थित करो और मेरी कृपा पाने के लिए ज्ञान के सिद्धान्तों का पालन करो। इन कार्यों से तुम अपने हृदय के भीतर से हर बात को समझ सकोगे।

तात्पर्य : किसी सौंपे गये उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने में लगे हुए विशिष्ट व्यक्ति के प्रति भगवान् द्वारा प्रदर्शित दया अकल्पनीय है। किन्तु उनकी यह दया भक्ति के प्रति हमारी तपस्या तथा अध्यवसाय के कारण प्राप्त होती है। ब्रह्मा को लोकों का सृजन करने का कार्य सौंपा गया था। भगवान् ने उन्हें आदेश दिया था कि ध्यान करने पर वे आसानी से जान सकेंगे कि लोकों को कहाँ पर और किस तरह व्यवस्थित किया जाय। ये आदेश अन्तःकरण से आने थे और इस कार्य में चिन्ता करने की कोई आवश्यकता न थी। बुद्धियोग के ऐसे आदेश स्वयं भगवान् द्वारा अन्तःकरण से सीधे प्रदान किये जाते हैं जिसकी पुष्टि भगवद्गीता (१०.१०) में हुई है।

तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः ।

द्रष्टासि मां ततं ब्रह्मन्मयि लोकांस्त्वमात्मनः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; आत्मनि—तुम अपने में; लोके—ब्रह्माण्ड में; च—भी; भक्ति-युक्तः—भक्ति में स्थित; समाहितः—पूर्णतया निमग्न; द्रष्टा असि—तुम देखोगे; माम्—मुझको; ततम्—सर्वत्र व्याप्त; ब्रह्मन्—हे ब्रह्मा; मयि—मुझमें; लोकान्—सारे ब्रह्माण्डों को; त्वम्—तुम; आत्मनः—जीव।

हे ब्रह्मा, जब तुम अपने सर्जनात्मक कार्यकलाप के दौरान भक्ति में निमग्न रहोगे तो तुम मुझको अपने में तथा ब्रह्माण्ड भर में देखोगे और तुम देखोगे कि मुझमें स्वयं तुम, ब्रह्माण्ड तथा सारे जीव हैं।

तात्पर्य : यहाँ भगवान् द्वारा यह उद्धरण दिया गया है कि ब्रह्मा दिन के समय उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में देखेंगे। वे प्रशंसा करेंगे कि किस तरह वृन्दावन में अपने बालपन के समय भगवान्

ने अपना विस्तार बछड़ों के रूप में कर लिया था, और वे जान सकेंगे कि किस तरह यशोदामाता ने कृष्ण की बाललीलाओं के समय उनके मुख के भीतर सारे ब्रह्माण्डों और लोकों को देखा था तथा वे यह भी देख सकेंगे कि ब्रह्मा के दिन में भगवान् कृष्ण के प्राकट्य के दौरान कई लाख ब्रह्मा होते हैं। किन्तु भगवान् के इतने सारे शाश्वत दिव्य रूप, जो सर्वत्र प्रकट होते रहते हैं किसी की समझ में नहीं आ सकते; ये केवल उन शुद्ध भक्तों द्वारा ही समझे जा सकते हैं, जो सदैव भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं और भगवान् में पूरी तरह से लीन रहते हैं। यहाँ पर ब्रह्मा की उच्च योग्यताओं का भी संकेत हुआ है।

यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम् ।
प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात्तर्ह्येव कश्मलम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; तु—लेकिन; सर्व—समस्त; भूतेषु—जीवों में; दारुषु—लकड़ी में; अग्निम्—अग्नि; इव—सदृश; स्थितम्—स्थित; प्रतिचक्षीत—तुम देखोगे; माम्—मुझको; लोकः—तथा ब्रह्माण्ड; जह्यात्—त्याग सकता है; तर्हि—तब तुरन्त; एव—निश्चय ही; कश्मलम्—मोह।

तुम मुझको सारे जीवों में तथा ब्रह्माण्ड में सर्वत्र उसी प्रकार देखोगे जिस तरह काठ में अग्नि स्थित रहती है। केवल उस दिव्य दृष्टि की अवस्था में तुम सभी प्रकार के मोह से अपने को मुक्त कर सकोगे।

तात्पर्य : ब्रह्मा ने प्रार्थना की कि अपने भौतिक कार्यों के दौरान कहीं वे भगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध को भूल न जाँय। उस प्रार्थना के उत्तर में भगवान् ने कहा कि उन्हें यह विचार तक मन में नहीं लाना चाहिए कि वे भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता से सम्बन्ध रखे बिना रह भी सकते हैं। यहाँ पर काठ के भीतर अग्नि का उदाहरण दिया गया है। काठ से उत्पन्न होने वाली अग्नि वही रहती है भले ही काठ भिन्न-भिन्न प्रकारों का हो। इसी तरह भौतिक सृष्टि के भीतर के जीवों के शरीर रूप तथा गुण के अनुसार भले ही भिन्न हों, किन्तु उनके भीतर का आत्मा एक दूसरे से भिन्न नहीं है। अग्नि की उष्मता का गुण सर्वत्र वही रहता है और आध्यात्मिक स्फुलिंग अथवा परमात्मा का भिन्नांश हर जीव में एकसा रहता है। इस तरह भगवान् की शक्ति उनकी सारी सृष्टि में वितरित है। एकमात्र यह दिव्य ज्ञान ही मनुष्य को भौतिक मोह के कल्मष से बचा सकता है। चूँकि भगवान् की शक्ति सर्वत्र वितरित है, अतः

शुद्ध आत्मा या भगवद्भक्त हर वस्तु को भगवान् से सम्बन्धित देख सकता है, अतएव उसे बाहरी आवरणों से कोई स्नेह नहीं रहता। वह शुद्ध आध्यात्मिक विचार उसे भौतिक संगति के समस्त कल्मष से निश्चेष्ट बना देता है। शुद्ध भक्त किसी भी अवस्था में भगवान् के संसर्ग को भुला नहीं पाता।

यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः ।

स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन्स्वाराज्यमृच्छति ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; रहितम्—से मुक्त; आत्मानम्—आत्मा; भूत—भौतिक तत्त्व; इन्द्रिय—भौतिक इन्द्रियाँ; गुण-आशयैः—भौतिक गुणों के प्रभाव के अधीन; स्वरूपेण—शुद्ध जीवन में; मया—मेरे द्वारा; उपेतम्—निकट आकर; पश्यन्—देखने से; स्वाराज्यम्—आध्यात्मिक साम्राज्य; ऋच्छति—भोग करते हैं।

जब तुम स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के विचार से मुक्त होगे तथा तुम्हारी इन्द्रियाँ प्रकृति के सारे प्रभावों से मुक्त होंगी तब तुम मेरी संगति में अपने शुद्ध रूप की अनुभूति कर सकोगे। उस समय तुम शुद्ध भावनामृत में स्थित होगे।

तात्पर्य : भक्तिरसामृत सिन्धु में यह कहा गया है कि जिस व्यक्ति की एकमात्र आकांक्षा भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने की होती है, वह संसार की किसी भी अवस्था में मुक्त पुरुष होता है। यह सेवाभाव ही जीव का स्वरूप या असली रूप है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी श्रीचैतन्य-चरितामृत में यह घोषित करते हुए इस कथन की सम्पुष्टि की है कि जीव का असली आध्यात्मिक रूप भगवान् की नित्य दासता है। मायावादी लोग जीव में सेवा भाव के विचार से काँपने लगते हैं। वे यह नहीं जानते कि दिव्य जगत में भगवान् की सेवा दिव्य प्रेम पर आधारित है। दिव्य प्रेममयी सेवा की तुलना भौतिक जगत की बलात् कराई गई सेवा से कभी नहीं की जा सकती। भौतिक जगत में भले ही कोई इस विचार में रहे कि वह किसी का दास नहीं है फिर भी वह भौतिक गुणों के आदेशानुसार अपनी इन्द्रियों का दास होता है। वस्तुतः इस भौतिक जगत में स्वामी कोई नहीं है, अतः इन्द्रियों के दासों को दासता का बहुत बुरा अनुभव रहता है। वे सेवा के विचार से ही काँप उठते हैं, क्योंकि उन्हें दिव्य पद का कोई ज्ञान नहीं होता। दिव्य प्रेममयी सेवा में दास भगवान् की ही तरह स्वतंत्र होता है। भगवान् स्वराट् अर्थात् पूर्णतया स्वतंत्र हैं और आध्यात्मिक जगत में दास भी पूर्णतया स्वतंत्र या स्वराट् है, क्योंकि वहाँ बलात् सेवा नहीं ली जाती। वहाँ दिव्य प्रेममयी सेवा स्वतःस्फूर्त प्रेम के कारण होती है। ऐसी सेवा की

प्रतिबिम्बित झलक पुत्र के प्रति माता की सेवा, मित्र के प्रति मित्र की सेवा या पति के प्रति पत्नी की सेवा में अनुभव की जाती है। मित्रों, मातापिता या पत्नियों द्वारा सेवा के ये प्रतिबिम्ब बलकृत नहीं, अपितु एकमात्र प्रेम के कारण हैं। किन्तु इस भौतिक जगत में प्रेममयी सेवा केवल प्रतिबिम्ब है। असली सेवा या स्वरूप सेवा भगवान् के सान्निध्य में दिव्य जगत में वर्तमान है। दिव्य प्रेम की वही सेवा यहाँ पर भक्ति में की जा सकती है।

यह श्लोक ज्ञानियों पर भी लागू होता है। जब प्रबुद्ध ज्ञानी समस्त कल्मषों से—यथा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के साथ-साथ प्रकृति के गुणों वाली इन्द्रियों से—मुक्त होता है, तो वह ब्रह्म को प्राप्त होता है और इस तरह भवबन्धन से छूट जाता है। वस्तुतः ज्ञानी तथा भक्तगण भौतिक कल्मष से मुक्ति पाने तक एकमत हैं, किन्तु जहाँ ज्ञानी लोग सामान्य ज्ञान के स्तर पर शान्त हो जाते हैं वहीं भक्तगण प्रेममयी सेवा में और अधिक आध्यात्मिक प्रगति कर लेते हैं। भक्तगण अपने स्वतःस्फूर्त सेवाभाव में आध्यात्मिक व्यष्टित्व विकसित कर लेते हैं, जो उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ *माधुर्यरस* तक पहुँच जाता है।

नानाकर्मवितानेन प्रजा बह्वीः सिसृक्षतः ।

नात्मावसीदत्यस्मिंस्ते वर्षीयान्मदनुग्रहः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

नाना-कर्म—तरह तरह की सेवा; वितानेन—विस्तार से; प्रजा:—जनता; बह्वीः—असंख्य; सिसृक्षतः—वृद्धि करने की इच्छा करते हुए; न—कभी नहीं; आत्मा—आत्मा; अवसीदति—वंचित होगा; अस्मिन्—पदार्थ में; ते—तुम्हारा; वर्षीयान्—सदैव बढ़ती हुई; मत्—मेरी; अनुग्रहः—अहैतुकी कृपा।

चूँकि तुमने जनसंख्या को असंख्य रूप में बढ़ाने तथा अपनी सेवा के प्रकारों को विस्तार देने की इच्छा प्रकट की है, अतः तुम इस विषय से कभी भी वंचित नहीं होगे, क्योंकि सभी कालों में तुम पर मेरी अहैतुकी कृपा बढ़ती ही जायेगी।

तात्पर्य : भगवान् का शुद्ध भक्त विशेष काल, वस्तु तथा परिस्थिति के तथ्यों से ज्ञात होने के कारण भगवद्भक्तों की संख्या को नाना प्रकार से सदैव बढ़ाना चाहता है। दिव्य सेवा का ऐसा विस्तार भौतिकतावादी को भले ही भौतिक लगे, किन्तु तथ्य तो यह है कि वह भक्त के प्रति भगवान् की अहैतुकी कृपा का ही विस्तार होता है। ऐसे कार्यों की योजनाएँ भौतिक कार्य प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु परमेश्वर की दिव्य इन्द्रियों की तुष्टि में लगे होने से उनकी शक्ति भिन्न-भिन्न होती है।

ऋषिमाद्यं न बध्नाति पापीयांस्त्वां रजोगुणः ।

यन्मनो मयि निर्बद्धं प्रजाः संसृजतोऽपि ते ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

ऋषिम्—ऋषि को; आद्यम्—सर्वप्रथम; न—कभी नहीं; बध्नाति—पास फटकता है; पापीयान्—पापी; त्वाम्—तुम; रजः-
गुणः—रजोगुण; यत्—क्योंकि; मनः—मन; मयि—मुझमें; निर्बद्धम्—लगे रहने पर; प्रजाः—सन्तति; संसृजतः—उत्पन्न करते
हुए; अपि—भी; ते—तुम्हारे।

तुम आदि ऋषि हो और तुम्हारा मन सदैव मुझमें स्थिर रहता है इसीलिए विभिन्न सन्ततियाँ
उत्पन्न करने के कार्य में लगे रहने पर भी तुम्हारे पास पापमय रजोगुण फटक भी नहीं सकेगा।

तात्पर्य : ब्रह्मा को यही आश्वासन द्वितीय स्कन्ध के नौवें अध्याय के श्लोक ३६ में दिया गया है।
भगवान् द्वारा इस तरह अनुग्रह दिखाये जाने से ब्रह्मा की सारी योजनाएँ अच्युत हैं। यदि कभी ब्रह्मा
मोहग्रस्त होते भी हैं, जैसाकि दशम स्कंध में है, तो वे अन्तरंगा शक्ति के कार्य को देखकर मोहित होते
हैं और वह दिव्य सेवा में आगे बढ़ने के लिए ही है। अर्जुन भी इसी तरह मोहित होता पाया जाता है।
भगवान् के शुद्ध भक्तों को ऐसा मोह भगवद्ज्ञान में उनकी उत्तरोत्तर उन्नति के लिए ही है।

ज्ञातोऽहं भवता त्वद्य दुर्विज्ञेयोऽपि देहिनाम् ।

यन्मां त्वं मन्यसेऽयुक्तं भूतेन्द्रियगुणात्मभिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञातः—ज्ञात; अहम्—मैं; भवता—तुम्हारे द्वारा; तु—लेकिन; अद्य—आज; दुः—कठिन; विज्ञेयः—जाना जा सकता; अपि—
के बावजूद; देहिनाम्—बद्धजीव के लिए; यत्—क्योंकि; माम्—मुझको; त्वम्—तुम; मन्यसे—समझते हो; अयुक्तम्—बिना
बने हुए; भूत—भौतिक तत्त्व; इन्द्रिय—भौतिक इन्द्रियाँ; गुण—भौतिक गुण; आत्मभिः—तथा मिथ्या अभिमान यथा बद्ध
आत्मा द्वारा।

यद्यपि मैं बद्ध आत्मा द्वारा सरलता से ज्ञेय नहीं हूँ, किन्तु आज तुमने मुझे जान लिया है,
क्योंकि तुम जानते हो कि मैं किसी भौतिक वस्तु से विशेष रूप से पाँच स्थूल तथा तीन सूक्ष्म
तत्त्वों से नहीं बना हूँ।

तात्पर्य : सर्वोच्च परम सत्य के ज्ञान के लिए यह आवश्यक नहीं है कि भौतिक जगत का निषेध
किया जाय, अपितु इसके लिए आध्यात्मिक जगत का ज्ञान आवश्यक है। यह सोचना कि भौतिक
जगत की अनुभूति स्वरूपों में की जाती है, इसलिए आध्यात्मिक जगत रूपविहीन होगा, आत्मा की
निषेधात्मक भौतिक धारणा है। असली आध्यात्मिक धारणा तो यह है कि आध्यात्मिक स्वरूप भौतिक

स्वरूप नहीं है। ब्रह्मा ने भगवान् के नित्य रूप की उस तरह से प्रशंसा की और भगवान् ने ब्रह्मा की आध्यात्मिक धारणा का अनुमोदन किया। *भगवद्गीता* में भगवान् ने कृष्ण के शरीर की उस भौतिक अवधारणा की निन्दा की है, जो इस कारण से उत्पन्न होती है कि वे एक मनुष्य की भाँति उपस्थित हैं। भगवान् अपने अनेकानेक आध्यात्मिक रूपों में से किसी एक में प्रकट हो सकते हैं, किन्तु वे न तो भौतिक वस्तु से बने होते हैं न ही उनके शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर होता है। भगवान् के आध्यात्मिक स्वरूप के चिन्तन की यही विधि है।

तुभ्यं मद्भिचिकित्सायामात्मा मे दर्शितोऽबहिः ।

नालेन सलिले मूलं पुष्करस्य विचिन्वतः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

तुभ्यम्—तुमको; मत्—मुझको; विचिकित्सायाम्—जानने के तुम्हारे प्रयास करने पर; आत्मा—आत्मा; मे—मेरा; दर्शितः—प्रदर्शित; अबहिः—भीतर से; नालेन—डंठल से; सलिले—जल में; मूलम्—जड़; पुष्करस्य—आदि स्रोत कमल का; विचिन्वतः—चिन्तन करते हुए।

जब तुम यह सोच-विचार कर रहे थे कि तुम्हारे जन्म के कमल-नाल के डंठल का कोई स्रोत है कि नहीं और तुम उस डंठल के भीतर प्रविष्ट भी हो गये थे, तब तुम कुछ भी पता नहीं लगा सके थे। किन्तु उस समय मैंने भीतर से अपना रूप प्रकट किया था।

तात्पर्य : भगवान् को न तो मानसिक चिन्तन द्वारा, न ही भौतिक इन्द्रियों की सहायता से, अपितु एकमात्र उनकी अहैतुकी कृपा होने पर अनुभव किया जा सकता है। भौतिक इन्द्रियाँ भगवान् की दिव्य जानकारी तक नहीं पहुँच सकतीं। उन्हें एकमात्र विनीत भक्ति के द्वारा जाना जा सकता है तब वे भक्त के समक्ष स्वयं प्रकट होते हैं। एकमात्र भगवत्प्रेम द्वारा मनुष्य ईश्वर को जान सकता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। भगवान् को भौतिक आँखों से नहीं देखा जा सकता है किन्तु उन्हें भगवत्प्रेम के अंजन से खुले दिव्य नेत्रों द्वारा भीतर से देखा जा सकता है। जब तक पदार्थ के मलिन आवरण के कारण, मनुष्य की आध्यात्मिक आँखें बन्द रहती हैं, वह भगवान् को नहीं देख सकता। किन्तु जब *भक्तियोग* द्वारा यह मल (धूल) हटा दिया जाता है, तो मनुष्य निश्चित रूप से भगवान् का दर्शन कर सकता है। ब्रह्मा अपने व्यक्तिगत प्रयास से कमलनाल का मूल देख पाने में असफल रहे, किन्तु जब भगवान् उनकी तपस्या तथा भक्ति से तुष्ट हो गये तो उन्होंने बिना बाह्य प्रयास के अपने आपको भीतर से प्रकट

कर दिया।

यच्चकर्थाङ्ग मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम् ।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यत्—वह जो; चकर्त्त—सम्पन्न किया; अङ्ग—हे ब्रह्मा; मत्-स्तोत्रम्—मेरे लिए प्रार्थना; मत्-कथा—मेरे कार्यकलापों के विषय में शब्द; अभ्युदय-अङ्कितम्—मेरी दिव्य लीलाओं की परिगणना करते हुए; यत्—या जो; वा—अथवा; तपसि—तपस्या में; ते—तुम्हारी; निष्ठा—श्रद्धा; सः—वह; एषः—ये सब; मत्—मेरी; अनुग्रहः—अहैतुकी कृपा।

हे ब्रह्मा, तुमने मेरे दिव्य कार्यों की महिमा की प्रशंसा करते हुए जो स्तुतियाँ की हैं, मुझे समझने के लिए तुमने जो तपस्याएँ की हैं तथा मुझमें तुम्हारी जो दृढ़ आस्था है—इन सबों को तुम मेरी अहैतुकी कृपा ही समझो।

तात्पर्य : जब कोई जीव दिव्य प्रेमाभक्ति में भगवान् की सेवा करना चाहता है, तो भगवान् चैत्य गुरु अर्थात् अन्तःकरण के गुरु के रूप में भक्त की अनेक प्रकार से सहायता करते हैं। इस तरह भक्त भौतिक अनुमान से परे अनेक अद्भुत कार्य कर सकता है। भगवान् की कृपा से एक साधारण व्यक्ति तक सर्वोच्च आध्यात्मिक सिद्धि की स्तुतियों की रचना कर सकता है। ऐसी आध्यात्मिक सिद्धि भौतिक योग्यताओं द्वारा प्रतिबन्धित नहीं होती, अपितु दिव्य सेवा करने के निष्ठावान् प्रयास के फलस्वरूप विकसित होती है। आध्यात्मिक सिद्धि के लिए स्वैच्छिक प्रयास एकमात्र योग्यता है। धन या विद्या की भौतिक उपलब्धियाँ विचारणीय नहीं होतीं।

प्रीतोऽहमस्तु भद्रं ते लोकानां विजयेच्छया ।
यदस्तौषीर्गुणमयं निर्गुणं मानुवर्णयन् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

प्रीतः—प्रसन्न; अहम्—मैं; अस्तु—ऐसा ही हो; भद्रम्—समस्त आशीर्वाद; ते—तुमको; लोकानाम्—लोकों का; विजय—गुणगान की; इच्छया—तुम्हारी इच्छा से; यत्—वह जो; अस्तौषीः—तुमने प्रार्थना की है; गुण-मयम्—दिव्य गुणों का वर्णन करते हुए; निर्गुणम्—यद्यपि मैं समस्त भौतिक गुणों से रहित हूँ; मा—मुझको; अनुवर्णयन्—अच्छे ढंग से वर्णन करते हुए।

मेरे दिव्य गुण जो कि संसारी लोगों को सांसारिक प्रतीत होते हैं, उनका जो वर्णन तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत किया गया है उससे मैं अतीव प्रसन्न हूँ। अपने कार्यों से समस्त लोकों को महिमामय करने की जो तुम्हारी इच्छा है उसके लिए मैं तुम्हें वर देता हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्मा जैसे शुद्ध भगवद्भक्त तथा उनकी शिष्य-परम्परा के भगवद्भक्त सैदव यही चाहते

हैं कि ब्रह्माण्ड भर के सारे जीव भगवान् से अवगत हो लें। भक्त की इस इच्छा को सदैव भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त होता है। कभी-कभी निर्विशेषवादी जन भगवान् नारायण की कृपा के लिए सतोगुण के साकार रूप में उनकी प्रार्थना करते हैं, किन्तु ऐसी प्रार्थनाओं से भगवान् तुष्ट नहीं होते, क्योंकि इससे उनके वास्तविक दिव्य गुणों का गुणगान नहीं हो पाता। भगवान् के शुद्ध भक्त उन्हें सदैव अतिशय प्रिय होते हैं यद्यपि वे सभी जीवों के प्रति सदा कृपालु और दयापूर्ण रहते हैं। यहाँ पर *गुणमयम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह भगवान् के दिव्य गुणों से युक्त होने का सूचक है।

य एतेन पुमान्त्रित्यं स्तुत्वा स्तोत्रेण मां भजेत् ।
तस्याशु सम्प्रसीदेयं सर्वकामवशेश्वरः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एतेन—इतने से; पुमान्—मनुष्य; नित्यम्—नियमित रूप से; स्तुत्वा—स्तुति करके; स्तोत्रेण—श्लोकों से; माम्—मुझको; भजेत्—पूजे; तस्य—उसकी; आशु—अतिशीघ्र; सम्प्रसीदेयम्—मैं पूरा करूँगा; सर्व—समस्त; काम—इच्छाएँ; वर—ईश्वरः—समस्त वरों का स्वामी।

जो भी मनुष्य ब्रह्मा की तरह प्रार्थना करता है और इस तरह जो मेरी पूजा करता है, उसे शीघ्र ही यह वर मिलेगा कि उसकी सारी इच्छाएँ पूरी हों, क्योंकि मैं समस्त वरों का स्वामी हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्मा द्वारा की गई स्तुति को कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं कर सकता है, जो अपनी इन्द्रियतृप्ति करने का इच्छुक है। ऐसी स्तुतियों का चयन वही व्यक्ति कर सकता है, जो भगवान् की सेवा करके उन्हें तुष्ट करना चाहता है। भगवान् दिव्य प्रेमाभक्ति विषयक समस्त इच्छाएँ निश्चय ही पूरी करते हैं, किन्तु वे अभक्तों की सनकों को पूरा नहीं कर सकते भले ही ऐसे आकस्मिक भक्तजन सर्वोत्कृष्ट प्रार्थनाएँ क्यों न करें।

पूर्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगसमाधिना ।
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

पूर्तेन—परम्परागत अच्छे कार्य द्वारा; तपसा—तपस्या से; यज्ञैः—यज्ञों के द्वारा; दानैः—दान के द्वारा; योग—योग द्वारा; समाधिना—समाधि द्वारा; राद्धम्—सफलता; निःश्रेयसम्—अन्ततोगत्वा लाभप्रद; पुंसाम्—मनुष्य की; मत्—मेरी; प्रीतिः—तुष्टि; तत्त्व-वित्—दक्ष अध्यात्मवादी; मतम्—मत।

दक्ष अध्यात्मवादियों का यह मत है कि परम्परागत सत्कर्म, तपस्या, यज्ञ, दान, योग कर्म, समाधि आदि सम्पन्न करने का चरम लक्ष्य मेरी तुष्टि का आवाहन करना है।

तात्पर्य : मानव समाज में अनेक परम्परागत पुण्य कर्म हैं यथा परोपकार, उपकार, राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता, दान, यज्ञ, तप तथा समाधि में ध्यान। किन्तु ये सब तभी लाभप्रद हो सकते हैं जब इनसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की तुष्टि हो सके। किसी भी कार्य की, चाहे वह सामाजिक हो, राजनीतिक, धार्मिक या परोपकार सम्बन्धी, पूर्णता भगवान् को तुष्ट करने में है। सफलता का यह रहस्य भगवद्भक्तों को ज्ञात है, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन द्वारा प्रस्तुत किया गया। अर्जुन एक नेक, अहिंसक मनुष्य के रूप में अपने परिजनों से युद्ध नहीं करना चाहता था किन्तु जब वह यह समझ गया कि कृष्ण युद्ध चाहते हैं और कुरुक्षेत्र में इसकी योजना उन्हीं की है, तो उसने अपनी प्रसन्नता का परित्याग करके भगवान् की प्रसन्नता के लिए युद्ध किया। सारे बुद्धिमान जनों के लिए यही उचित निर्णय है। मनुष्य को एकमात्र चिन्ता अपने कार्यों द्वारा भगवान् को तुष्ट करने की होनी चाहिए। यदि भगवान् किसी कार्य से, चाहे वह कैसा भी हो, तुष्ट हो जाते हैं, तो वह सफल है। अन्यथा यह समय का अपव्यय मात्र है। समस्त यज्ञ, तप, यौगिक समाधि तथा अन्य उत्तम एवं पुण्य कार्यों का यही मानदण्ड है।

अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन्प्रेयसामपि ।
अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; आत्मा—परमात्मा; आत्मनाम्—अन्य सारी आत्माओं का; धातः—निदेशक; प्रेष्ठः—प्रियतम; सन्—होकर; प्रेयसाम्—समस्त प्रिय वस्तुओं का; अपि—निश्चय ही; अतः—इसलिए; मयि—मेरे प्रति; रतिम्—अनुरक्ति; कुर्यात्—करे; देह-आदिः—शरीर तथा मन; यत्-कृते—जिसके कारण; प्रियः—अत्यन्त प्रिय।

मैं प्रत्येक जीव का परमात्मा हूँ। मैं परम निदेशक तथा परम प्रिय हूँ। लोग स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के प्रति झूठे ही अनुरक्त रहते हैं; उन्हें तो एकमात्र मेरे प्रति अनुरक्त होना चाहिए।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तो बद्ध तथा मुक्त दोनों ही दशाओं में परमप्रिय हैं। जब कोई व्यक्ति यह नहीं जानता कि भगवान् ही एकमात्र सर्वाधिक प्रिय लक्ष्य हैं, तब वह जीवन की बद्ध अवस्था में होता है और जब वह यह भलीभाँति जान लेता है कि भगवान् ही एकमात्र सर्वाधिक प्रिय लक्ष्य हैं, तो वह मुक्त माना जाता है। भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को जानने की कोटियाँ हैं, जो इस अनुभूति पर निर्भर करती हैं कि परमेश्वर प्रत्येक जीव के सर्वप्रिय लक्ष्य क्यों हैं। असली कारण

भगवद्गीता (१५.७) में स्पष्ट बतलाया गया है। ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः—सारे जीव परमेश्वर के नित्य भिन्नांश हैं। जीव आत्मा कहलाता है और भगवान् परमात्मा। जीव ब्रह्म कहलाता है और भगवान् परब्रह्म या परमेश्वर। ईश्वरः परमः कृष्णः। जिन बद्धात्माओं को आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ होता वे भौतिक देह को ही सर्वप्रिय मानते हैं। तब सर्वप्रियन्ता का विचार केन्द्रीभूत तथा विस्तृत दोनों रूपों में सारे शरीर में फैल जाता है। अपने शरीर तथा इसके विस्तारों यथा सन्तानों तथा सम्बन्धियों के प्रति अनुरक्ति वस्तुतः असली जीव के आधार पर विकसित होती है। जब असली जीव शरीर से बाहर चला जाता है, तो सर्वप्रिय पुत्र तक का शरीर आकर्षक नहीं लगता। अतएव सजीव स्फुलिंग या ब्रह्म का नित्य अंश स्नेह का असली आधार है, शरीर नहीं। चूँकि सारे जीव भी सर्वोपरि पुरुष के अंश हैं, अतः वे परम पुरुष सबों के स्नेह के वास्तविक आधार हैं। जो व्यक्ति प्रत्येक वस्तु के लिए अपने प्रेम के मूलभूत सिद्धान्त को भूल जाता है उसमें केवल टिमटिमाता प्रेम होता है, क्योंकि वह मायाग्रस्त होता है। जो माया के सिद्धान्त से जितना ही अधिक प्रभावित होता है, वह प्रेम के मूल सिद्धान्त से उतना ही विरक्त रहता है। जब तक कोई व्यक्ति भगवान् की प्रेमाभक्ति में पूर्णतया विकसित नहीं होता तब तक वास्तव में वह किसी वस्तु से प्रेम नहीं कर सकता।

प्रस्तुत श्लोक में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पर प्रेम को केन्द्रित करने पर बल दिया गया है। यहाँ पर कुर्यात् शब्द सार्थक है। इसका अर्थ है “मनुष्य इसे प्राप्त करे।” यह इस बात पर बल देने के लिए है कि हमें प्रेम के सिद्धान्त के प्रति अधिकाधिक अनुरक्त होना चाहिए। माया का प्रभाव आध्यात्मिक जीव के अंश द्वारा अनुभव किया जाता है, किन्तु यह माया परमात्मा पर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकती। मायावादी दार्शनिक जीव पर माया के प्रभाव को स्वीकार करके परमात्मा के साथ तदाकार होना चाहते हैं। किन्तु परमात्मा के प्रति वास्तविक प्रेम न होने से वे माया के प्रभाव द्वारा सदैव पाशबद्ध रहते हैं और परमात्मा के निकट पहुँच पाने में अक्षम रहते हैं। यह अक्षमता परमात्मा के प्रति उनके स्नेह के अभाव के कारण है। धनी कंजूस यह नहीं जानता कि वह अपनी सम्पत्ति का किस तरह उपयोग करे, अतएव अत्यन्त धनी होते हुए भी उसका कंजूस स्वभाव उसे सदैव निर्धन व्यक्ति बनाये रखता है। इस के विपरीत वह व्यक्ति जो यह जानता है कि धन का किस तरह उपयोग किया जाय, थोड़ी पूँजी होने पर भी तुरन्त धनी बन सकता है।

आँखों तथा सूर्य में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि सूर्यप्रकाश के बिना आँखें देख नहीं सकतीं। किन्तु शरीर के अन्य भाग, क्योंकि वे उष्मा के स्रोत के रूप में सूर्य से जुड़े होते हैं, आँखों की अपेक्षा सूर्य का अधिक लाभ उठाते हैं। सूर्य के प्रति स्नेह से युक्त हुए बिना आँखें सूर्य की किरणों को सहन नहीं कर सकतीं अथवा, दूसरे शब्दों में, ऐसी आँखों में सूर्य की किरणों की उपयोगिता को समझ पाने की क्षमता नहीं होती। इसी प्रकार से आनुभविक दार्शनिक, ब्रह्म का सैद्धान्तिक ज्ञान होने के बावजूद, परब्रह्म की कृपा का उपयोग नहीं कर पाते, क्योंकि उनमें स्नेह का अभाव रहता है। अतः अनेक निर्विशेषवादी दार्शनिक जन ब्रह्म का सैद्धान्तिक ज्ञान रखने के बावजूद भी सदा के लिए माया के वशीभूत रहते हैं, और वे ब्रह्म के प्रति स्नेह उत्पन्न नहीं करते, न ही उनमें स्नेह उत्पन्न होने की कोई सम्भावना रहती है, क्योंकि उनकी विधि दोषपूर्ण है। सूर्यदेव का भक्त, दृष्टिहीन होते हुए भी इस लोक से सूर्यदेव को उनके यथारूप में देख सकता है, किन्तु जो सूर्य का भक्त नहीं है, वह सूर्य की चमक को भी सहन नहीं कर पाता। इसी तरह भक्तियोग के द्वारा, कोई व्यक्ति ज्ञानी के स्तर पर न होते हुए भी, शुद्ध प्रेम के विकास के कारण अपने भीतर भगवान् का दर्शन कर सकता है। मनुष्य को सभी परिस्थितियों में भगवत्प्रेम विकसित करने का प्रयास करना चाहिए और इससे समस्त जटिल समस्याएँ हल हो जायेंगी।

सर्ववेदमयेनेदमात्मनात्मात्मयोनिना ।

प्रजाः सृज यथापूर्व याश्च मय्यनुशेरते ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

सर्व—समस्त; वेद-मयेन—पूर्ण वैदिक ज्ञान के अधीन; इदम्—यह; आत्मना—शरीर द्वारा; आत्मा—तुम; आत्म-योनिना—सीधे भगवान् से उत्पन्न; प्रजाः—जीव; सृज—उत्पन्न करो; यथा-पूर्वम्—पहले की ही तरह; याः—जो; च—भी; मयि—मुझमें; अनुशेरते—स्थित हैं।

मेरे आदेशों का पालन करके तुम पहले की तरह अपने पूर्ण वैदिक ज्ञान से तथा

सर्वकारण-के-कारण-रूप मुझसे प्राप्त अपने शरीर द्वारा जीवों को उत्पन्न कर सकते हो।

मैत्रेय उवाच

तस्मा एवं जगत्त्रष्ट्रे प्रधानपुरुषेश्वरः ।

व्यज्येदं स्वेन रूपेण कञ्जनाभस्तिरोदधे ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; तस्मै—उससे; एवम्—इस प्रकार; जगत्-स्रष्ट्रे—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा के प्रति; प्रधान-पुरुष-ईश्वरः—आदि भगवान्; व्यन्य इदम्—यह आदेश देकर; स्वेन—अपने; रूपेण—स्वरूप द्वारा; कञ्ज-नाभः—भगवान् नारायण; तिरोदधे—अन्तर्धान हो गये।

मैत्रेय मुनि ने कहा : ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्मा को विस्तार करने का आदेश देकर आदि भगवान् अपने साकार नारायण रूप में अन्तर्धान हो गये।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड का सृजन कार्य करने के पूर्व ब्रह्मा ने भगवान् के दर्शन किये। चतुःश्लोकी भागवत की यही व्याख्या है। जब सृजन ब्रह्मा के कार्य की प्रतीक्षा में था, तो ब्रह्मा ने भगवान् को देखा, अतः भगवान् सृष्टि के पूर्व अपने साकार रूप में विद्यमान थे। उनका नित्य रूप ब्रह्मा के प्रयास से सृजित नहीं हुआ जैसाकि अल्पज्ञों की कल्पना है। भगवान् अपने यथारूप में ब्रह्मा के समक्ष प्रकट हुए और उसी रूप में उनके सामने से अदृश्य हो गये। यह रूप भौतिकता से कलुषित नहीं है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत 'सृजन-शक्ति के लिए ब्रह्मा द्वारा स्तुति' नामक नौवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।